पाजेब

(कहानी संग्रह)

जैनेन्द्र कुमार



राजकमल प्रकाशन

प्रथम बार १९४८

मूल्य सवा तीन रुपये

गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली से मुद्रित । राजकमल
पब्लिकेशन्स लिमिटेड दिल्ली द्वारा प्रकाशित ।

विषय-सूची

एक रोज़ उन्होंने देखा कि एक लड़का रामनामी दुपट्टा कमरसे बाँधे गीत गा-गाकर किताबें बेच रहा है। रोज़ लगभग एक ही स्थान पर इसी समय यही करता हुआ वह मिलता है। देह का ऊपर का हिस्सा उसका खुला है। बीस-बाईस वर्षका होगा। रंग श्याम है,बनावट सुंदर। बाल बड़े और घुँघराले हैं। श्मश्रु चेहरे पर फूट ही रहे हैं।

धीरे-धीरे करके मोटर से जाते हुए सेठानी ने यह सब देखा। यह भी देखा कि मोटर पास से निकलती तो ऊपर को मुँह उठाकर वह इसी तरफ़ देखने लगता है।

रत्नप्रभा अपनी ओर लोगों को देखते हुए पाने की आदी है। फिर भी बिना देखे वह देखने लगी कि इस लड़के की निगाह मोटर की तरफ़ और स्वयं उसकी तरफ़ जैसे एक ही से भाव से उठती है, मानो मोटर की भाँति वह भी पदार्थ हो।

रत्नप्रभा ने एक-दो बार उसकी ओर देखा भी। औरों की तरह इस पर उसकी निगाह नीचे नहीं आई। वह किशोर उसी भाँति टकटकी लगा कर देखता रहा।

यह घाट के पास की ही बात है। मोटर वहाँ धीमी चलती है। भीड़ रहती है और रास्ता तंग है। मोटर अनायास रुकी तो उसने शोफ़र से कहा—"वह किताब बेचता है न लड़का, उसे बुलाना।" बुलाने पर लड़का आकर खड़ा हो गया। उसके हाथ में किताबें थीं। मोटर में ही से रत्नप्रभा ने पूछा—"क्या है?"

"किताबें हैं। लीजिएगा?"

रत्नप्रभा ने कहा—"किताबों की बात नहीं, ठीक तरह तुम अपना काम क्यों नहीं करते हो?"

लड़का इस बात को बिना कुछ समझे निरुत्तर खड़ा रह गया।

"निगाह नीची रखा करो। सुनो! जाओ।...चलाओ जी।"

मोटर चली गई और लड़का खड़ा रह गया। फिर वह भी अपनी जहगलौट आया।

लेकिन देखा गया कि मोटर निकलती है तो उसकी आँखें उसी तरह उठ जाती हैं। वह निगाह बाँधकर देखता रहता है। उस दृष्टि में आश्चर्य बहुत होता है।

दो-तीन रोज़ बाद मोटर रोककर रत्नप्रभा ने फिर उसे बुलाया। कहा—"क्या बेचते हो ?"

"किताबें हैं। हनुमानचालीसा, स्त्री-सुबोधिनी, तोता-मैना, छबीली भटियारी—चाहिए ?"

रत्नप्रभा को बहुत बुरा मालूम हुआ। कहा—"ये गन्दी किताबें क्यों बेचते हो ?"

"बिकती हैं, सो बेचता हूँ। मेरे पास वह भी है....चाहिए ?"

"क्या है ?"

धीमे से लड़के ने कहा—"कोक-शास्त्र—दूँ ?"

रत्नप्रभा के कर्णमूल लाल हो गए। शोफ़र से बोली—"चलाओ।"

गाड़ी लड़के को वहीं छोड़कर चल दी।

किन्तु फिर देखा कि लड़का उसको और उसकी गाड़ी को उसी तरह निर्भीक, निर्लज्ज, उत्सुक और चकित दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रह जाता है। उस ओर देखती है तो भी वह देखता रहता है। दृष्टि में अपेक्षा नहीं है, विस्मय है—केवल विस्मय, अपार विस्मय।

उस निरपेक्षता से लाचार होकर फिर रत्नप्रभा ने मोटर रुकाई। बुलाया और पूछा—"तुम इसमें क्या पैदा कर लेते हो?"

उसने उत्तर दिया—"धेली-बारह आना—"

रत्नप्रभा ने कहा—"गन्दी किताबें न बेचो तो न चले ?"

लड़के ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

रत्नप्रभा गुस्से में भर आई। बोली—"वह किताब कितनी हैं ?"

"कोकशास्त्र ?—पाँच।"

"कितने में देते हो ?"

"दो-दो में।"

"जाओ तो, पाँचों ले आओ—बदमाश !"

लड़का पाँचों पुस्तकें ले आया। शोफर ने उन्हें ले लिया। रत्नप्रभा ने दस रुपये का नोट उसकी तरफ फेंक दिया। कहा—"खबरदार, अब आइन्दा मत बेचना।"

यह कहकर एक दूसरा दस रुपये का नोट भी उस पर फेंक दिया। उससे पहले ही हुक्म पाकर मोटर चल दी और हवामें उड़ता हुआ वह दूसरा नोट लड़के ने पकड़ा।

किन्तु उसमें अन्तर नहीं आया। उसकी निगाह वही थी और जगह भी वही। वह निगाह झुकने को तैयार न थी। उसमें न कृतज्ञता थी, न आतंक। उसमें शिष्टता तक न थी।

गाड़ी को रोककर इस बार फिर बुलाया, कहा—"अब क्या बेचते हो ?"

बोला—"जो कहिए। हनुमान चालीसा, तोता-मैना, एक रात में..."

"वह वाली किताब है ?"

"...है—लाऊँ !"

रत्नप्रभा ने गुस्से में आकर कहा—"ऐसे तुम बाज़ नहीं आओगे। पुलिस की मार से तुम ठीक होगे।"

वह सुनता हुआ चुप खड़ा रहा, कुछ भी नहीं बोला। उसकी निगाह ठीक वही थी। रत्नप्रभा ने कहा—"कुल कितने की किताबें तुम्हारे पास हैं ?"

"बीस रुपये की।"

रत्नप्रभा ने कहा—"यह लो पच्चीस और सब यहाँ पटक जाओ। फिर ख़बरदार जो तुमने यह काम किया !"

लड़का गया, किताबें ले आया, मोटर में उँड़ेल दीं और पच्चीस ले लिये।

रत्नप्रभा ने कहा—"समझे ? अब यह काम न करना। खोमचा

लगाओ, कुछ और करो। इसमें अब तुम्हें देखा तो—चलाओ जी !"

पर दो-एक रोज के अन्तर से वह लड़का उसी तरह किताबें फैलाए, वहीं खड़ा रत्नप्रभा की जाती हुई मोटर की ओर देखता हुआ दिखाई दिया। उस दिन तो खैर वह निकल गई। पर अगले दिन उसको बुलाकर उसने डांटा और पूछा कि यह स्टाक कितने का है। पन्द्रह कहने पर उसे पन्द्रह निकाल कर दे दिये, फिर पास रखा बेंत शोफ़र की तरफ फेंककर कहा—"इस की जरा मरम्मत तो कर देना।"

शोफ़र ने बेत लेकर पाँच-सात जोर से उस लड़के के जड़ दिये। लड़का उसी निगाह से रत्नप्रभा को देखता हुआ बिना कुछ कहे चुपचाप पिटता रहा। आसपास लोग घिर आए। वे तो सदा ही घिर आते थे। पर उनकी तरफ न रत्नप्रभा का ध्यान था, न लड़के का। रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों, अब तो न करोगे ?"

लड़का चुपचाप उसी निगाह से देखता हुआ खड़ा रहा। रत्नप्रभा ने कहा—"दो-चार और तो जमाना। अभी इसे अक़ल नहीं आई !"

शोफर ने आज्ञा का पालन किया। और वह लड़के की धृष्ट निगाह की तरफ देखती रही। उसमें कोई दया की अपेक्षा नहीं थी।

देखते-देखते बेसब्री से बीच में रोककर रत्नप्रभा ने कहा—"बस रहने दो, अब इसे अक़ल आ गई होगी।"

लड़का उसी तरह खड़ा रहा। आँखें उसकी बड़ी-बड़ी थीं और उस में डोरे थे। उनमें मानो समझ न हो, जाने क्या हो। पर न वे आँखें भीगीं, न गुस्से में तेज हुईं। वह उसी भाँति स्थिर, विस्मय और अन-पेक्षा से देखती रहीं।

रत्नप्रभा ने झटककर शोफर से कहा—"गठरी में से किताबें अपने पास डाल लो और चलो।" और मोटर चल दी।

उसके बाद दो-तीन चार-सात रोज तक वह लड़का फिर दिखाई नहीं दिया। एक तरह इन दिनों में रत्नप्रभा निश्चिन्त थी। सात रोज

के बाद क्या देखती है कि वह लड़का खड़ा नहीं है, न कुछ बेच रहा है; बल्कि बैठा हुआ है और डफली बजाकर भजन गा रहा है।

उसे और उसकी मोटर को देखकर वह चुप हो गया। मोटर निकल गई, तो वह फिर गाने लगा। आवाज़ उसकी अच्छी है, लोचदार। कण्ठ सुरीला है। गाता है तो ध्वनि काँपती-सी निकलती है, जैसे मन को पकड़ती हो। वह गाता अच्छा है, यह उसके मुँह से भक्ति के पद सुनकर ही रत्नप्रभा को मालूम हुआ। मानो बिना सुने वह सुनती थी। आज यमुना पहुँची तो उस भिखारी का वह पद, उसका स्वर, उसके मन में चक्कर काट रहा था। भगवद्दर्शन के समय वही पद उसमें घूम रहा था—'प्रभु जी मोरे अवगुन चित न धरो।'

लौटकर उधर से निकली तो गाना फिर रुक गया। रत्नप्रभा ने मोटर रुका ली। शोफर से कहा—"जाकर कहो कि गाना रोके नहीं।"

शोफर कहकर आ गया। पर गाना आरम्भ नहीं हुआ।

रत्नप्रभा ने कहा—"जाकर कहो कि फिर पिटना चाहता है क्या? गाना जारी रखे।"

शोफर फिर कहकर लौट आया, पर गाना शुरू नहीं हुआ। इस पर तैश में आकर रत्नप्रभा ने कहा—"चलाओ जी गाड़ी।"

गाड़ी का सरकना था कि उसे गीत का स्वर सुनाई दिया। 'समदरसी है...'

रत्नप्रभा ने कहा—"धीमे चलाओ, देखते नहीं रास्ता खराब है?"

'समदरसी है...समदरसी है नाम तिहारो....'

मोटर में से वह यह सुनती गई और पद के इतने अंश को अपने साथ-साथ लिये घर पहुँची। सोचती जाती थी कि उसका नाम समदर्शी है। वह सबको प्यार कर सकता है। उसमें सब एक हैं। एक ऊँचा है, एक नीचा है। एक सुन्दर है, एक कुरूप है। एक मोटर में है, दूसरा धरती पर है। पर उसमें सब बराबर हैं। 'ऊँच-नीच सब एक वरन भये'—वह सोचती थी, और उस लड़के का काँपता हुआ स्वर उसके

भीतर घूमता हुआ लगता था—'समदरसी है नाम तिहारो''''''प्रभुजी मोरे अवगुन चित न धरो।'

अगले रोज वह वहीं था और गा रहा था। मोटर के रुकने पर वह रुक गया। आज्ञा पाकर शोफर उसे पास बुला लाया। रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों जी, तुम अब क्या करते हो?"

उसने उत्तर दिया—"गाता हूँ!"

"अरे, खाने के लिए क्या करते हो?"

"भीख माँगता हूँ।"

"भीख क्यों माँगते हो?"

लड़का इसका बिना कुछ जवाब दिये खड़ा रहा।

"भीख मिल जाती है?"

लड़के ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया।

"रोटी माँगते हो, या पैसों से लेकर खाते हो?"

लड़का उसी तरह रत्नप्रभा को देखता हुआ खड़ा रहा। कुछ नहीं बोला।

"मुझसे भीख लोगे?"

इसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

आप ही रत्नप्रभा बोली—"नहीं, भीख नहीं, मैं नौकरी दे सकती हूँ। नौकरी करोगे?"

लड़के ने कहा—"करूंगा।"

"तो गाना गाओ।"

चारों ओर फिर तमाशा आ जुटा था। पर लड़का खड़ा रह गया। उसने गाना नहीं गाया।

रत्नप्रभा ने कहा—"नौकरी करोगे तो गाते क्यों नहीं?"

वह बात उसने फिर नहीं सुनी। उसी तरह रत्नप्रभा की ओर सीधा देखता हुआ वह खड़ा रहा।

रत्नप्रभा बोली—"तो जाओ, भीख ही मांगो। तुम और किसी लायक नहीं हो।"

शायद रत्नप्रभा को अपेक्षा थी कि लड़का चला जायगा। पर ठूँठ की नाईं, उसे वहीं खड़ा देख रत्नप्रभा ने शोफर को डांटकर कहा—"तुमने यहां क्यों गाड़ी खड़ी कर रखी है जी? रास्ते में गाड़ी इस तरह न रोका करो!"

गाड़ी चली गई, तो लड़का भी चला गया। जाकर अपनी जगह पर पाथली मारकर बैठा हुआ गाने लगा—'म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु जी म्हाने...'

वह स्वर वायु पर बहता हुआ रत्नप्रभा के कानों में पड़ा। वहां से थोड़ी ही दूर पर मन्दिर है। यमुना से लौटकर मन्दिर में दर्शनार्थ आई, तभी उसे यह पद सुन पड़ा। मानों अनुकृति में भगवान् के समक्ष नमन करते हुए वह यही कहने लगी कि— हे प्रभु जी मुझे तो तुम्हीं रख लो। सेवा करूंगी, चाकरी करूंगी, मुझे और कहीं न जाने दो, अपनी शरण में ले लो!

लौटती बार मोटर सीधी चली गई, रुकी नहीं। दो-तीन दिन यही क्रम रहा। लड़का वहीं बैठा हुआ गाता मिलता। पहले रोज़ गाने में विघ्न पड़ा, दूसरे रोज़ भी—पर फिर देखने में आया कि मोटर निकल जाती है और गाना भी जारी रहता है। रत्नप्रभा ने सोचा कि क्या वह अब भी मेरी तरफ आंख उठाकर देखता है? शायद अब उसे इसका ध्यान नहीं है; या है?

इस तरह चार-पांच रोज़ खींचकर शोफर के ज़रिये फिर उसे बुलाया। पूछा—"नौकरी में क्या लोगे?"

लड़के ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपनी उन्हीं आंखों की उसी दृष्टि से देखता रहा।

रत्नप्रभा ने जल्दी मचाकर पूछा—"क्यों जी, सोते कहां हो? कुछ और कपड़ा है कि यही है? तन रखने को भीख में मिल जाता है?"

उसने सब सवालों के उत्तर में उसी तरह देखते हुए संक्षेप में उत्तर दिया—"यहीं कहीं सो रहता हूँ।"

रत्नप्रभा ने हँसकर कहा—"कोई झाड़ू मार के निकाल तो नहीं देता ?"

लड़के ने कहा—"निकाल भी देता है।"कहकर वह उसी तरह उसे देखता रहा।

रत्नप्रभा घबराई बोली—"तो बताया नहीं, नौकरी में क्या लोगे ?"

इसका कुछ उत्तर लड़के ने नहीं दिया।

रत्नप्रभा झल्लाई हुई बोली—"ठीक बोलो, नौकरी करोगे या नहीं करोगे ? पूछते हैं तो मिज़ाज ही आसमान पर चढ़ता जाता है।"

उस बात को लड़के ने नहीं छुआ, कहा—"करूँगा।"

और भी झल्लाकर बोली—"तो बतलाते क्यों नहीं, क्या लोगे ?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया। अन्त में हारकर आप ही गुस्से में भरी हुई बोली—"कपड़ा खुराक के अलावा पन्द्रह से मैं एक ज़्यादा नहीं दूँगी। करेगा ?"

"करूँगा।"

"मेरा सब काम करना होगा और बिना पूछे कहीं नहीं जाना होगा। मंजूर है ?"

लड़का चुप खड़ा रहा।

रत्नप्रभा आप ही कहती गई—"मेरा सब काम, चाहे मैं कुछ कहूँ। कपड़ा धोना, सफ़ाई करना, जूते साफ़ करना, सब काम। तेरे कोई है या नहीं ?"

"कोई नहीं।"

"माँ-बाप, सगे-सम्बन्धी ?"

"कोई नहीं।"

"कोई कैसे नहीं है ? कहाँ का रहने वाला है ?"

लड़का चुप रह गया।

"चुप क्यों रह जाते हो जी! तुम बोलते क्यों नहीं ?"

लड़का उसी दृष्टि से रत्नप्रभा को देखता रहा। उसमें न आदर था, न तिरस्कार। क्रोध से भय न था, न सहानुभूति की अपेक्षा। जैसे वह दृष्टि निश्चेतन हो।

रत्नप्रभा ने कहा—"इन ढङ्गों में नौकरी करोगे ? जाओ—अपनी भीख माँगो।"

मोटर चल दी,और लड़का अपनी जगह आ पालथी मारकर डफली पर गीत गाने लगा—'ए मुसाफ़िर, रंगे दुनिया चन्द रोज़'

घर आई तो रत्नप्रभा अपने से परेशान थी। लड़के को वह कुछ कठोर दण्ड देना चाहती थी, पर तय न कर पाती थी। अन्त में उसने शोफ़र को बुलाकर आज्ञा दी कि आज शाम को पाँच बजे तक उस लड़के को यहाँ ठीक हालत में आ जाना चाहिए—ठीक कपड़े,ठीक शक्ल। साथ का सामान उसका फेंकना नहीं, लेते आना।

कहा, वैसा हुआ। लड़का सभ्य वेश में रत्नप्रभा के सामने उपस्थित हुआ। इस रूप में वह बुरा नहीं लगता था।

रत्नप्रभा ने कहा—"क्यों जी,तुम्हें मालूम है, तुम कैसे दीखते हो ? लो देखो।" कहकर उसे हाथ से मोड़कर आईने की तरफ़ सीधा कर दिया। पीछे खड़ी होकर स्वयं देखने लगी। देखा कि लड़का स्वयं अपने बिम्ब को भी उसी दृष्टि से देख रहा है, जैसे उसे देखता था। दृष्टि निश्चेष्ट है और निर्भाव। यह दृष्टि अपने से हटकर दर्पण में रत्नप्रभा के चेहरे की ओर आई, क्षणभर रत्नप्रभा आशा से स्तब्ध हो रही। लेकिन देखा तो दृष्टि वही थी, जैसे पत्थर की मूर्ति देखती हो। उसमें कोई क्रिया, कोई प्रतिक्रिया न थी।

रत्नप्रभा पलंग पर आ बैठी। बोली—"उधर ही देखते रहोगे ? सुनो, इधर सुनो।"

लड़के ने उधर मुँह कर लिया।

"तुम्हें सब काम मेरे करने होंगे। नहीं मंजूर हो, तो अब भी कह

दो। यह रही तुम्हारी कफ़नी और डफली, अब भी जा सकते हो।"

सब काम करने के सम्बन्ध में लड़के ने कोई असहमति नहीं बतलाई।

"क्यों जी, बाँसुरी भी बजाते हो ?"

उसके सामान में से बाँसुरी निकालकर रत्नप्रभा ने उसे देते हुए कहा—"लो, बजाओ तो।"

लड़का बाँसुरी हाथ में टिकाए उसी भाँति खड़ा रहा।

"विघ्न की सोचते हो ? लो, किवाड़ बन्द किये देती हूँ, अब किसी का विघ्न न होगा !"

यह कह उसने खड़े होकर बाहर जानेके दोनों दरवाज़े बन्द कर दिए। कहा, "बजाओ।"

लड़का उसी भाँति खड़ा रहा, बाँसुरी मुँह पर नहीं ली।

रत्नप्रभा ने कहा—"तुमको मैं कह नहीं चुकी हूँ, नौकरी में तुम्हें मेरा सब काम करना होगा ?"

लड़के ने कहा—"नौकरी नहीं करूँगा।"

पहले तो सुनकर वह देखती-की-देखती रह गई। फिर मारे गुस्से के उसके सामानको मेज़ पर से उठाकर, फेंकती हुई बोली—"अरे, ये जो तेरे कपड़ों में सत्तर रुपये खर्च हुए हैं, सो बता, अब तेरे किस बाप से मैं लूँ, भिखमंगे? कह दिया नौकरी नहीं करूँगा। तू और करेगा क्या ? तू तो वही जूठे टुकड़े खायगा ? तू उसी लायक है।"

लड़का उसी निर्विकार दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहा। सब सुना, पर कुछ न कहा।

रत्नप्रभा कुछ देर स्वयं ही अपने क्रोध को व्यर्थ करती रही। अन्त में बोली—"घर में झाड़ू बुहारी करोगे ? सफ़ाई-धुलाई करोगे ?"

"करूँगा।"

"गाना नहीं गाओगे ?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने कहा—"इन कपड़ों में झाड़ू दोगे ? तुम्हें कपड़े की भी

लाज नहीं है ?" कहकर उसने दरवाज़े खोल दिए और घण्टी बजाई।

घंटी पर वही शोफ़र उपस्थित हुआ, उसे कहा—"सुनो, इस आदमी को ले जाओ। २ंगत को दफ़्तर की तरफ भेज देना वहाँ से उसे ड्रेस मिलेगी। और उसका पुराना जोड़ी-कपड़ा लेकर इसे दे देना और उस का सब काम इसे बता देना—क्यों, तुम्हारा नाम क्या है ?"

लड़के ने कहा—"मालूम नहीं।"

रत्नप्रभा बोली—"अजब पागल हो, नाम भी मालूम नहीं है। लोग कुछ तो कहते होंगे ?"

"नन्हा बैरागी कहते हैं।"

"नन्हा बैरागी !" कहकर रत्नप्रभा ज़ोर से हँस उठी। बोली—"अंगरेज़ी बाल बैरागियों के नहीं होते हैं। जाओ, सुना ? तुम बैरागी नहीं हो। और यह तुम्हें तुम्हारा काम बता देंगे।"

चलते हुए मेज़ से लड़के ने अपनी कफ़नी उठा लेनी चाही। पर रत्नप्रभा ने कहा—"इसमें कोई लाल नहीं टँके हैं, जो बैरागी को इतना लोभ है ! इसको यहीं रहने दो। तुम जाओ, काम देखो !"

वह काम देखने चला गया। उसके बाद रत्नप्रभा को भी बहुत काम हो आया। रत्नप्रभा उद्यत रहती है और धन पर हाथ नहीं रोकती। इससे अल्पायु में ही अनायास वह सार्वजनिकता के लिए आवश्यक होती जारही है। इस तरह की अनेकानेक व्यस्तताओं से उसे अवकाश नहीं मिलता। घर से आते-जाते रोज़ देखती है कि वह आदमी (जिसका नाम मंगल पड़ गया है) आधी धोती में उसी के हुक्म की प्रतीक्षा में बाहर चौखट से लगा बैठा है। पर उसे समय नहीं है और वह देखती हुई निकल जाती है।

मंगल तमाम घर साफ करता है। सबके कपड़े धोता है। और इस घर के दूसरे नौकरों की भी ताबेदारी निबाहता है। यह वह जानती है और सन्तुष्ट है। एक रोज़ जाते-जाते उसने कृपापूर्वक पूछा—"मंगल आराम से हो ?"

मंगल ने चेहरा उठाकर मालकिन की ओर देखा। वही दृष्टि, जिस-में अभाव है न अभियोग। मानो एक चट्टान की स्थिरता।

रत्नप्रभा प्रश्न पूछती हुई बिना उत्तर लिये बाहर निकल गई और परेशान हो गई। उसकी परेशानी यह थी कि सब काम ठीक हो रहा है। मंगल सवेरे उठता, भजन गुनगुनाता और औरों के उठने से पहले तमाम घर साफ़ कर डालता है। यही सब रत्नप्रभा को ठीक नहीं लगता।

उसने शोफ़र को बुलाकर डांटकर कहा—"तुम्हारे नए आदमी को इतनी तमीज़ नहीं कि हम जाएँ तो अदब से उसे खड़ा होना चाहिए। यह भी मुझे सिखाना पड़ेगा?"

देखा गया कि आगे से मंगल रत्नप्रभा के जाते समय झुककर बन्दगी करने लगा है। पर इससे रत्नप्रभा की परेशानी कम न हुई। लगा कि आदमी नहीं झुकता, यन्त्र झुकता है।

इन्हीं दिनों रत्नप्रभा को मालूम हुआ कि उसे शिमला जाना होगा। एक शिष्टमंडल के शिमला जाने की आवश्यकता उसने महिला-समिति को क्या सुझाई कि वह काम उसी पर आ पड़ा।

रत्नप्रभा ने शोफ़र को बुलाया और कहा—"मेरे साथ शिमला एक आदमी जायगा। कौन जायगा?"

शोफर ने कहा—"जिसे आज्ञा हो।"

"तुम्हारा नया आदमी कैसा है?"

"है चुस्त, पर बोलता नहीं है।"

"गूंगे का मुझे क्या करना है? लेकिन बिलकुल नहीं बोलता है? और काम तो कर लेता है। बदतमीज तो नहीं है?"

"अभी नया है; बेअदब तो नहीं है।"

"उसे बुलाओ तो।"

मंगल आकर सामने खड़ा हो गया। जैसे बुत हो और अन्दर की आंखों से देख रहा हो।

रत्नप्रभा ने जल्दीसे शोफ़र से कहा—"जाओ दफ्तरसे स्टोरके लिए दो गरम सूट का आर्डर करा लाओ। सोमवार को जाना है।"

शोफ़र सुनकर ठिठका रह गया। बोला—"हुजूर, पर्ची—"

रत्नप्रभा बिगड़कर बोली—"क्या बात है जी, पुराने होकर भूलते जाते हो! कह नहीं रही हूँ,आर्डर टाइप करा लाओ,दस्तख़त ले जाना। या—"

शोफ़र सिर झुकाकर चला गया। तब रत्नप्रभा ने कहा—"मंगल, सुनते हो? तुम किसी से बोलते क्यों नहीं?"

मंगल ने सुनकर ऊपर देखा, उत्तर नहीं दिया।

"गाते भी नहीं?"

इसका भी उत्तर उसने नहीं दिया।

रत्नप्रभा बोली—"यहां तुम गाते क्यों नहीं हो?"

वह अपनी उसी दृष्टि से देखता रह गया, कुछ भी कहने का प्रयास नहीं किया।

अवश भाव से रत्नप्रभा बोली—"तुम अच्छा गाते हो। भक्ति के भजन मुझे अच्छे लगते हैं। पर भक्ति मेरी छूट गई है। मुझे और तरह के काम रहते हैं। पर तुम्हें क्या हुआ है? मैं बहुत बुरी हूं? तुम्हें यह ख्याल तो नहीं कि मैंने तुम्हें पिटवाया था? झाड़ू-बुहारीका काम पसन्द न हो, तो तुम छोड़ दो। तुमने एक बार भी नहीं कहा कि तुम्हें वह नापसन्द है। देखती हूँ, तुम इसका भी अहसान नहीं मानते कि मैंने तुम्हें कैसी हालत से बचाया है।···तो क्या मैं इतनी बुरी हूं?... शिमले में जंगल हैं, पेड़ हैं। कभी देखा है? नहीं देखा होगा। वहां सुनसान भी बहुत है। यहां जैसा वहां नहीं है। वहाँ तुम खुलकर गा सकते हो। क्या देखते हो? इस तरह नहीं देखना चाहिए—ले आए।"

शोफ़र से लेकर काग़ज़ पर रत्नप्रभा ने दस्तख़त कर दिये और कहा—"लो मंगल; अब तुम इनके साथ जाओ। मुझे फुर्सत नहीं

होगी, लेकिन सोमवार को जाना है। तय्यार रहना कि कहते ही चल सको।"

दोनों को भेजकर वह पलंग पर लेट गई। बहुत दिनों में वह दिन में पलंग पर लेटी है। लेटकर अपने मन को पाना चाहती है। पर वहां थाह नहीं मिलती। तो शिमला न जाऊं? अकेली न जाऊं? इस प्रकार उधेड़-बुन में रहकर अन्त में इच्छापूर्वक उसने सोचा कि यह आदमी जड़ है, इसको सीधा करना होगा।

शिमला में उसने एक अलग कोठी ली। वहीं एक पहाड़ी नौकर की व्यवस्था की। मंगल से कहा—"तुम आज़ाद थे, मैंने तुमको बन्धन में डाला। यहां तुम नौकर नहीं हो, जो चाहे कर सकते हो।"

वह सुनता हुआ खड़ा रह गया।

रत्नप्रभा बोली—"घूमो, रहो, गाओ। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है। अब तुम आज़ाद होकर खुश हो?"

उसके चेहरे पर न खुशी थी, न रंज। बदन पर नया सूट था, जो वहाँ रक्खा हुआ मालूम होता था। उत्तर के लिए जब उसने अपने को विवश पाया तो कहा—"मेरी कफ़नी कहाँ है? वह मिल जाय तो मैं चला जाऊँगा।"

रत्नप्रभा जल्दी से बोली—"कहाँ चले जाओगे? मैं तुम्हें अलग थोड़े ही कर रही हूँ। यह कपड़े तुम्हारे हैं, जगह तुम्हारी है। तुम ऐसे बेगाने-से क्यों रहते हो? मैं तो कहती हूँ कि तुम पाबन्द नहीं हो। अब तुम गा सकते हो। बँसुरी बजा सकते हो। यह लो, तुम्हारी बाँसुरी मैं लेती आई हूँ। तुम बड़े इकले रहते हो और बोलते नहीं हो। यह ठीक नहीं है। हम सब भी तो दुनिया में हैं, तुम्हारे लिए जैसे कोई नहीं है। ऐसे इकले तुम क्यों रहते हो? मैं हूं। मैं तुम्हें यहाँ ले आई हूं। मैं तुम्हारे लिए और भी कर सकती हूँ। तुम क्या चाहते हो?"

वह लड़का रत्नप्रभा की सारी बातें सुनता हुआ चुप ही रह गया। जैसे वह कुछ समझा ही नहीं।

रत्नप्रभा कहती रही—"मैंने तुम-सा आदमी नहीं देखा। जो इतना जड़ है कि—पता ही नहीं। अरे, बोलते क्यों नहीं कि तुम क्या चाहते हो ?"

रत्नप्रभा को ऐसा मालूम होता था कि जैसे उसके सामने वह कुछ भूल जाता है। जैसे जाने कहाँ हो। वह उस सारे काल भौंचक-सा बना रहता है। रत्नप्रभा रीझती है, खीझती है; पर वह यह सब अपने में ही कर लेती है। वह तो अचल पत्थर की मूर्ति की नाईं खड़ा ही रहता है।

रत्नप्रभा गुस्से में भरकर बोली—"जाओ, हटो मेरे सामने से !"

उसी गुस्से में ट्रंक में से कफ़नी निकालती हुई फेंककर बोली—"लो, और निकलो यहाँ से।"

कुछ देर तो लड़का विस्मय में डूबा खड़ा देखता रहा। फिर अपनी कफ़नी और बाँसुरी लेकर वहाँ से चल खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा देखती रही और कुछ नहीं बोली। वह अपने को नोंच लेना चाहती थी। ऐसा अपमान उसका कभी नहीं हुआ था। उठकर कोठी की बाल्कनी पर आ गई और सामने फैले बेतरतीब पहाड़ी ढालुओं को देखने लगी। देखती क्या है कि लड़का कफ़नी पहिने और बाँसुरी हाथ में लिये कोठी से निकला चला जा रहा है। वह अपने स्थान से हिली न डुली, और लड़का उतरता हुआ घने पेड़ों के अंधेरे में धीरे-धीरे मिल कर ओझल हो गया।

पेड़ वे असंख्य हैं। उनमें गहरी छाँह है। उनमें सब छिप जाता है। उसमें सब खो जाता है। कैसे वे घनियारे हैं ! अँधेरे और गहरे और मौन। बादलों का उन पर वसन है, जैसे सब रहस्यमय हो। यह बन, अवसन्न प्रतीक्षा में, क्या किसी को बुला रहा है ? किस को बुला रहा है ?

रत्नप्रभा इसी तरह दूर तक फैले हुए तमसावृत वन-प्रांत को अपनी बाल्कनी पर खड़ी देखती रही। मानो क्रमशः सघन होते हुए उस अपार अन्धकार की गोद में से उसे कुछ निमंत्रण प्राप्त हो रहा हो। पर हठात् वह लौटी। आकर अपने काम में लग गई।

दिन बीत गया। शाम भी बीत चली। तब उसने लंबी सांस ली।

चलो छुट्टी हुई। जाना था, वह चला गया। उसने चाय मँगाई, और चाय आ गई। चाय से उसे फरहरी आई। बहुत सरदी है। चारों तरफ शाल लपेटकर उसने खिड़की खोल ली। दूर तक बादल ही बादल थे। कुछ दीखता नहीं था। अदृश्य बादल खिड़की में से सारे कमरे में भरे आ रहे थे। शाल लेकर उसने कानों को भी ढँक लिया। बाहर बूँदा-बाँदी हो रही थी, उसने चाय का दूसरा कप बनाया और उसमें से उठती भाप को देखा।

रात पड़ने पर उसने पहाड़ीसे पूछा तो मालूम हुआ कि लड़का यहीं मौजूद है। सुनकर रत्नप्रभा ने उधर ध्यान नहीं दिया। लेकिन लड़के ने स्वयं अपनी चिन्ता कर ली थी। खाना खा लिया था और कंबल लेकर ऊपर कोने में आकर सो गया था।

इसी तरह क्रम चलता रहा। लड़का खानेके समय आता,बाकी समय बाहर रहता। एक-आध रात भी उसने बाहर कहीं बिताई।

एक दिन रत्नप्रभा ने उससे कहा—"तुम उस पहाड़ी लड़की को बाँसुरी बजाकर सुनाते हो! वह बहुत सुन्दर है?"

लड़के ने कहा—"वह मुझसे हँसती है।"

"तुम भी उससे हँसते हो?"

"हाँ, मैं भी उससे हँसता हूँ।"

"तो तुम इकले नहीं हो? बैरागी नहीं हो?"

"नहीं हूँ।"

"तुम मेरे साथ तो नहीं हँसते। मैं हँसूँगी?"

लड़का चुप रह गया।

"हँसोगे नहीं और बाँसुरी भी नहीं बजाओगे—मैं ऐसी बुरी हूँ?"

लड़का कुछ नहीं बोला, उसी तरह देखता रहा।

"लेकिन मैं बुरी नहीं हूँ। बाँसुरी बजाओगे,तो मैं सुनूँगी। हँसोगे, तो मैं हँसूँगी। तुम मुझसे ऐसे क्यों रहते हो?"

लड़का कुछ नहीं बोल सका।

रत्नप्रभा बोली—"उससे तुम प्रेम करते हो ?"

लड़के ने उत्तर नहीं दिया।

"उससे विवाह करोगे ?"

उसका भी उसने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"उसके घर वालों की यह शर्त है कि विवाह करके तुम्हें यहीं बसना होगा, जानते हो ?"

"जानता हूँ !"

"तो तुम मेरे साथ नहीं चलोगे ?"

लड़का चुप रह गया।

रत्नप्रभा ने उसी समय पहाड़ी नौकर और उसकी बहिन को बुलाया। कहा—"अब हम कल चले जायंगे। तुम हिसाब कर लो, और अभी तुम जा सकते हो।"

उनके जाने पर रत्नप्रभा ने लड़के से कहा—"अब सब काम यहां का तुमको करना है, और तुम मेरे साथ ही चलोगे।"

लड़के ने इस पर किसी तरह की आपत्ति नहीं की। वह बिना कहे-सुने घर की सफ़ाई से लेकर खाना बनाना आदि सब काम करने लगा। वह काम करने के सिवाय घर से बाहर भी नहीं जाता था, बोलता भी नहीं था।

रत्नप्रभा इस आदमी से परेशान थी। सब काम एकदम ठीक करता है। ऐसा भी क्या आदमी कि यंत्र हो। इस बार गुसलखाने में जो पहुँची और पानी डालने को हुई तो देखा कि जगह पर साबुनदानी नहीं है। उसने ज़ोर से आवाज़ दी—"साबुन कहां है ?"

लड़के ने कहा—"अन्दर ही है।"

रत्नप्रभा बोली—"यहाँ नहीं है, देखकर लाओ।"

लड़का अपनी जगह ही रहा। वहीं से कहा—"देखिए, वहीं होगी।"

रत्नप्रभा झींककर बोली—"अरे आंख के अन्धे, यहाँ आकर बता, कहाँ है ?"

लड़के ने कुछ नाराज़ी में कहा—"कह रहा हूँ, देखिये वहीं होगी।"

स्नानागार के दरवाज़े का पट जोर से बाहर फेंककर रत्नप्रभा बोली—"वहीं से बातें बना रहा है। यह नहीं कि आ के निकाल दे, कहाँ है।"

कहकर एक तौलिया उसने अपने बदन पर ले लिया। लड़के ने आकर पंजों के बल खड़े होकर पीछे से खींचकर डिबिया उतार दी।

रत्नप्रभा बोली—"देखो भला; मैं वहां से खींचकर कैसे लेती ? और यह पानी ! खड़े क्या हो, हाथ डालकर देखो, गरम है ? और गरम लाओ।"

उसने गरम पानी ला दिया।

"तुमसे इतना कहा, बालटी को पटड़े से इतनी दूर न रखा करो। अब मैं कैसे सरकाऊँ ? इसमें और ठंडा मिलाओ, अभी और। अरे, बस बस..."

लड़का सब काम करके चला आया। रत्नप्रभा नहाकर आई, तो बहुत असन्तुष्ट थी—"ऐसे कैसे चलेगा जी ? मन तुम्हारा कहां रहता है ? उस लड़की की बातें सोचा करते हो ? काम में ध्यान रखा करो।"

उस दिन संध्या से ही बारिश होने लगी थी। बौछार तेज़ पड़ रही थी। शायद ओले तक हों। हवा सायँ-सायँ करती हुई किवाड़-खिड़कियों पर थपेड़े दे रही थी।

रत्नप्रभा ने रजाई चारों तरफ़ लपेट ली। हवा कहीं से आती, तो बर्छी की धार-सी लगती थी। उसने लड़के को बुलाकर कहा—"इस वक्त चाय बना सकते हो ?"

लड़का तभी जाकर चाय बना लाया।

रत्नप्रभा ने कहा "लो बैठ जाओ। खड़े क्यों हो ?—आओ, यहां बैठ जाओ।"

बहुत कहा तो लड़का स्टूल लाकर बैठ गया। चाय भी ले ली।

रत्नप्रभा बोली—"तुम्हें सरदी नहीं लगती? मुझे तो रजाई में भी सरदी लग रही है। ऐसे समय मेरे लिए चाय बनाकर लाये हो—तुम कौन हो? नौकर कभी ऐसे काम नहीं करता। सच कहो, मुझे—क्या समझते हो?"

लड़का आँख फाड़े उसे देखता रह गया।

रत्नप्रभा बोली—"सुनो, मुझे कोई नहीं समझता। इसीसे मैंने तुम्हें पीटा—इसीसे तुमसे काम लेती हूँ। इसीसे सबसे नाराज होती हूँ। कोई मुझे समझे तो मैं अच्छी हो सकती हूँ। तुम मुझे अच्छा बना रहे हो। पर तुम चुप रहते हो और मुझे शक होता है, और मैं बुरी हो जाती हूँ। मैं भी अकेली हूँ। बहुत अकेली। तुम अब नहीं गाते—प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो?"

लड़का यह सब सुनता रहा।

"मैं अब भी कहने को सोचती हूँ कि प्रभु जी मेरे अवगुन चित में न लाना। सोचती हूं, पर कहती नहीं, भूल जाती हूं। हम सब भूल जाते हैं। मुझे काम रहता है। कामों में हम सब भूल जाते हैं।....तुम कहाँ सोओगे? वहाँ हवा तो नहीं आती?"

"नहीं आती।"

"नीचे सोते हो? एक कम्बल में सरदी नहीं लगती?"

"नहीं लगती।"

रत्नप्रभा देखती रही। सहसा बोली—"मैंने क्या बिगाड़ा है? मुझे क्यों सताते हो? तुमसे बदला ले रही हूं;. इससे तुम मुझसे बदला ले रहे हो? मैं तुम्हें पहचानती हूं। तुम वह नहीं हो जो दीखते हो। जब तुम सब सहते हो, तुम सब सुनते हो, तब यह नहीं कि तुम सब देखते भी नहीं हो। नहीं, तुम समझते हो। सच कहो, गुस्सा करती हूँ, इसके लिए मैं गुस्से के लायक हूं? तुम गुस्सा नहीं करते। तुम, प्रेम करते हो। कह सकते हो कि तुम प्रेम नहीं करते? मैं तुम्हारी

आँखों में सब देखती हूँ, तुम यहाँ आओ, मेरे पास बैठो।"

लड़का विवश-सा बढ़ता हुआ उसके पास जा बैठा। रत्नप्रभा ने दोनों हाथोंसे उसका हाथ पकड़ा और अपने माथे पर रख लिया। माथा गरम था।

"यह क्या, तुम्हें बुखार है!"

रत्नप्रभा ने कहा—"बुखार नहीं है, तुम बैठो।"

"बुखार तेज है।"

कहकर, खड़े होकर उसने शाल को रत्नप्रभा पर ठीक कर दिया कि कान ढँक जायं और खुद लेकर उसकी दोनों बाहों को रजाई के अन्दर कर दिया। अनन्तर चिमनी की आग में और लकड़ी डाल दी।

अनन्तर चलने लगा, तो रत्नप्रभा बोली—"कहाँ जाते हो?"

लड़के ने कहा—"डाक्टर को लिये आता हूं।"

रत्नप्रभा ने कहा—"नहीं। सुनो, मेरी एक बात सुन जाओ। यहाँ आकर बैठो।"

उस अनुरोध-भरी ध्वनि पर वह ठिठका और आकर सिरहाने के पास बैठ गया।

रत्नप्रभा का ज्वर चढ़ता जा रहा था। बोली—"इस छद्म वेश में क्यों जी, तुम क्यों आये? यह तो परीक्षा का कायदा नहीं है। लेकिन अब मैं तुम्हें पहचान गई हूं। अब छलना में आने वाली नहीं हूं।"

कहकर रत्नप्रभा ने दोनों बाहें उसकी टाँगों पर डाल दीं। वह कहती गई, "मेरे मान की परीक्षा ही लेने आए हो न तुम, बैरागी? मुझे मान पर चढ़ाकर तुम झुकते चले गए, झुकते चले गए। अब मैं वह खेल समझ गई हूं। अब तो तुम्हारे झाँसे में आकर तुम्हें जाने देने वाली मैं नहीं हूँ, मेरे मौनी! म्हाने चाकर राखो जी, प्रभु म्हाँने…"

लड़का घबराहट से रत्नप्रभा के चेहरे को देखता रहा। फिर व्यग्रता से वह उठ खड़ा हुआ।

रत्नप्रभा हाथ पकड़कर बोली—"कहाँ जाते हो मेरे बैरागी? यह

कह जाओ कि तुम्हें गुस्सा नहीं है, और मुझे माफ़ कर दिया !"

लड़का असहाय पड़ी रत्नप्रभा की आँखों में करुणा से देखता हुआ ठिठका खड़ा रह गया।

एकाएक उसका हाथ छोड़कर रत्नप्रभा ने कहा—"अब जाओ, तुम्हारी आंखों में मैंने सब पा लिया। सब पा लिया, अब तुम जाओ।"

लड़का तुरन्त डाक्टर को लेने चला गया।

डाक्टर की सहायता और अपनी अथक सेवा से रत्नप्रभा को उसने पूरी तरह स्वस्थ कर लिया। उसके बाल अब बढ़ गये थे और पहले की तरह वह कफनी ही पहिनने लगा था।

कुछ स्वस्थ होकर रत्नप्रभा ने कहा—"मैं वचन देती हूँ कि अब मैं तुम्हें खोऊँगी नहीं। लक्ष्मी चंचल है, संसार असार है और अकिंचन भक्ति ही व्यक्ति का सर्वस्व है। यह मैं तुमसे देख सकी। अहंकार की जगह यह बात मुझ में बसी रहे इसके लिए सदा तुम्हारा ध्यान धरूँगी। पर अब जाते हो, तो भी अपनी बाँसुरी मुझे नहीं सुनाओगे ?"

तब प्रथम बार रत्नप्रभा के प्रति मुस्कराकर बालक ने बांसुरी ओठों से लगाई।

सुनकर रत्नप्रभा बेसुध हो रही। सुधि आई तो बांसुरी वाला जा चुका था।

तीन

बीऽट्रिस

"नहीं, मैं रायसाहब की सम्मति से सहमत नहीं हो सकूंगा।" अवकाश-प्राप्त मेजर रघुराज ने कहा—"स्त्री-पुरुष का संबन्ध वह नींव नहीं है जिस पर नीति या धर्म को खड़ा होना चाहिए। वह आनुषंगिक बात है। उसका कुछ भी मतलब नहीं है। उस पर से किसी के बारे में कोई राय मैं कायम नहीं करूंगा।"

डा० कैलाशनारायण ने कहा—"तब आखिर वह मान हमारे पास क्या रह जायगा, जिससे हम चरित्र को नापें? संबन्धों में एक मर्यादा तो होनी चाहिए। वह मर्यादा मानसिक होकर अनिश्चित हो जायगी। इससे उसे शारीरिक ही रखना होगा।"

रायसाहबने कहा—"मैं तर्क नहीं कर सकता। मैं बहुत नहीं जानता। दिमाग से जानी बात अन्तिम होती भी नहीं, हमारी धारणाएँ मन-बचाव हैं। सचाई उनसे घिर कहाँ पाती है?"

डाक्टर ने तब हँसकर कहा—"छावनी और समाज अलग चीजें हैं। समाज मर्यादाओं को मानकर ही चल सकता है—छावनी में इन चीजों के बारे में शिथिलता हो तो क्या अचरज?" कहकर डा० नारायण ने विजय की मुस्कराहट से मेजर को देखा।

मेजर उदास थे, बोले—"यह बात ठीक है। हम फौजियों में उच्छृ ङ्खलता होती है। लेकिन मुझे आपके समाज में चरित्र की वह ऊँचाई मिली जिसका अनुभव फौज की चरित्रहीनता में मुझे हुआ है, यह कहना कठिन है। मैं अपनी बीती सुनाता हूँ।"

कहकर अनुमति की अपेक्षा में मेजर ने दोनों बन्धुओं की तरफ देखा।

डाक्टर कैलाश ने कहा—"हाँ, सुनाओ, फौज के किस्से चटपटे होते हैं।"

खिन्न मुस्कराहट से मेजर ने आरंभ किया—"हाँ, चटपटे तो होते ही हैं। लेकिन···तब की बात है जब जर्मनों से फ्लैंडर्स में हमारा मुकाबिला हुआ था। हमारी टुकड़ी आगे थी। बढ़कर हमने एक पहाड़ी पर कब्जा किया हुआ था और उनकी भीषण गोलाबारी भी हमें वहाँसे हटा न सकी। वह जगह खास मौकेकी थी और जर्मनोंको आगे कदम बढ़ाने के लिए उस पहाड़ी को कब्जे में लेना बहुत जरूरी था। मैं टुकड़ी की कमान पर था। धीरे-धीरे हमारे आदमी कम होते जा रहे थे। पीछे से रसद भी टूट गई थी। हमने पीछेसे संबन्ध जोड़ना चाहा, पर जर्मनोंने हमारे दरम्यान दरार डाल दी थी। अब हमने देखा कि हम घिर गये हैं। कुछ देर और भी हम पहाड़ीकी चोटीपर टिके रह सकते थे। लेकिन इससे पहले कि जर्मनों का घेरा हम पर कसता जाय और हम घुट जायँ, मौका था कि पीछे की अपने दरम्यान जर्मनों की दरार तोड़ते हुए हम अपने मेनकैम्प में जा मिलें। यही उपाय था कि हम अपने कुछ आदमियों और सामान को बचा सकते। तत्काल यह निर्णय करके पीछे की तरफ हमने पहाड़ी उतरना शुरू किया। नीचे नहीं आ पाए थे कि दुश्मन की गोलियाँ सनसनाती आने लगीं। हम थोड़े जन बचे थे और गोला-बारूद भी कम था। बड़ी तोप ऊपर से ला न सके थे। मैंने मालूम कर लिया था कि यहाँ शत्रु की एक पंक्ति है। सीना खोलकर सीधे तेज चाल से बढ़ते चले जायं तो संभव है कि कुछ हममें से बचकर निकल जायँ। जीते-जी जर्मनों के हाथ हममें कोई कैदी बनने को तैयार नहीं था। सब लोग तत्पर थे कि गोलियों की बौछार में से भी बढ़ते ही जायँगे। यह सोचकर धीमे-धीमे घुटने और कहीं पेट के बल रेंगते, पेड़ों की ओट लेते, ऐसी जगह हम आ गए जहां से दुश्मन के आदमियों पर थोड़ा-

बहुत निशाना साधा जा सकता था। वहाँ से जितने हो सके, दुश्मन के आदमियों को हमने निशाना बनाया। फिर कारतूस खतम होने पर संगीन खोलकर दो-दो की कतार में हम आँख की सीध में तीर की तरह भाग छूटे।

आगे कह नहीं सकता कि क्या हुआ? कौन कहाँ गिरा और कैसे मरा, पता नहीं। उस जीती मौत से मेरे सिवा टुकड़ी में का एक ही आदमी और बच सका। मुझे तो संगीन खोलकर भागने के क्षण के बाद अस्पताल में ही अपना पता चला। चारों तरफ से गोलियां बरस रही थीं। और मैं चलता चला जा रहा था। कहां,कब,क्या,किधर—सब-कुछ मेरे लिए लुप्त हो गया था। मानो पहाड़की चोटी से अनल अथाहमें मैं कूद पड़ा था। मालूम होता है कोई गोली मुझे लगी थी। पेटमें से कोई कारतूस निकला। बड़े गोले से निकलीं उनकी छोटी-बड़ी बर्छियां मेरे पेट को छलनी कर गई थीं।

जो हो मैं कैम्प के अस्पताल में था। और होश आया तब पेट में बहुत घाव था।

फिर तो फ्लैंडर्स में हमें और भी पीछे हटना पड़ा। यहां तक कि उसे छोड़ना ही पड़ा। मैं कुछ दिनों बाद कैम्प के अस्पताल से लंदन के एक अस्पताल में आ गया।

अस्पताल में मुझे पूरे पांच महीने रहना पड़ा। चलते समय मन में था और अब भी है कि क्या यह संभव नहीं हो सकता कि मैं बीमार रहकर सदा उसी अस्पताल में रहा चला आऊँ? यह प्रश्न अस्पताल की एक सिस्टर के कारण मन में हुआ था।

यहां कुछ अपनी बात कह लूं। फौज में मैं किसी विश्वास के कारण नहीं था। जर्मनों से घृणा नहीं थी। देश पर प्रेम नहीं था। वेतन का लोभ—यह भी न कह सकूंगा। बात यह थी कि अपने साथ मैं कोई खतरे का खेल खेलना चाहता था। मेरी समझ में न आता था कि क्यों जी रहा हूँ, क्यों जीऊँ? इसकी तुक खोजे न मिलती थी। कोई मुझे

अपने लिए केन्द्र प्राप्त न था। रोमांस के दिन बीत चुके थे। वह मूर्खता भी अब वश की न थी। प्रेम आकाश से उतर शरीर पर आ गया था और उस तल पर बराबर जिंदगी में साथ चल रहा था। पर आकृष्ट बिलकुल न करता था। बल्कि ऊब होती थी। अब वह प्रेम एक लगी लत भर था। स्त्री आवश्यक पदार्थ से अधिक न रह गई थी। पत्नी थी पर उसे मेरी चिन्ता न थी। और बच्चों को छोड़े मुझे वर्षों हो गए थे। फौज ने जीवन के तल को शारीरिक बना दिया था और मुझे ऐसा लगता था कि मुझे जीना नहीं है सिर्फ रहते जाना है। जिसे सिर्फ रहना है, वह सब चीजों से पाक है। उसे नेक और बद नहीं रहते। उसके लिए कहीं कोई अर्थ ही नहीं रहता। शायद कुछ ऐसी ही वजह हो कि हम फौजी झड़प के लिए, नशे के लिए और मौत के लिए सदा तैयार रहते हैं। बन्दूक उठाई और सामने वाले को मार दिया। उसने बन्दूक तान ली तो उसकी नली के मुँह की सीध में बढ़ते चले गए। जब हर घड़ी सिर पर मौत है और कहीं कोई मतलब नहीं है, तो समझा ही जा सकता है कि ऐसे आदमी का नतीजा क्या होगा! फौज के कवायद ही मानो हम को कायम रखते थे। दिनों का चक्कर तब मानो अपने ही जोर से चलता था। हमें कुछ न करना होता था।

अब अस्पताल के भी कवायद हैं। इतनी बार और इस वक्त टेम्परेचर; बँधे वक्त दवाओं के डोज और बँधा खाना; डाक्टर और सिस्टर का चक्कर और नर्सों की हाजरी।

मैं जख्म का ड्रेसिंग आराम से करा लेता था। घाव गहरा और बड़ा था। समझा जाता था कि ऐसे घायल को रोना-चीखना चाहिए। ये उम्मीद डाक्टरों, नर्सों और आसपास के लोगों की आँखों में मुझे स्पष्ट दीखती थी। मेरी तरफ से उनको इस विषय में निराशा ही मिलती गई। दर्द अन्दर से बहुत मालूम हो रहा है और ऊपर से मैं काबू किये हुए हूँ—ऐसा आभास भी मुझ पर से उन्हें न मिलता था। इस तरह धीरे-धीरे करके डाक्टर और दूसरे लोग मेरे जख्म के साथ किसी क़दर

आजादी से पेश आने लगे।

ड्रेसिंग की बात तो यह थी। लेकिन दवा का पीना मुझे नागवार था। न तो वह जहर था; न खुशजायका ही थी। अधिक कड़वी चीज़ पी जाने की कोई बात हो तो लुत्फ़ भी है। आधा चम्मच पीने में क्या बहादुरी है ? ऐसी छोटी-मोटी तकलीफें पाना या देना मुझे पसन्द नहीं। तलवार का भरपूर हाथ सिर को धड़ से जुदा कर दे तो उसमें एक सफ़ाई की बात है। पर पिन चुभाने में क्या इन्सानियत है ?

दवा का पैमाना लेकर नर्स सिरहाने आ खड़ी होती तो मैं उसकी तरफ़ देखता रह जाता। जी होता कि कहूँ कि जहर लाई हो तो लाओ पिऊँ। पर तमाशा मुझे अच्छा नहीं लगता। पर मैं नर्स की तरफ़ देखकर जान-बूझकर कुछ भी कहने से रह जाता था। वह आकर पैमाना लेकर, ऐसी मशीन के पुर्जे की तरह अचल खड़ी हो जाती कि मुझे खयाल होता कि एक बेड के पास डेढ़ मिनट रहकर फिर दूसरे पर इसे चला जाना है। इसे दवा से या मरीज़ से वास्ता नहीं है। ड्यूटी से ही वास्ता है। उस तमाम चेहरे पर ड्यूटी को लिपे-पुते देखता तो तत्काल हाथ बढ़ाकर दवा का गिलास लेकर हलक में डाल लेता। फिर नर्स को देखने लगता। वह चार्ट उतारती, करने का काम करती, और आगे बढ़ जाती।

यहाँ की नर्सों के चेहरे पर अधिकतर मुझे यह ड्यूटी ही लिखी दीखती थी। और मैं दवा पीने जैसे व्यर्थ काम को स्कूल के बच्चे की तरह पूरा कर जाता था।

लेकिन एक नर्स आई, जिसके चेहरे पर ड्यूटी के सिवा और भी कुछ था। ड्यूटी वहाँ शायद थी ही नहीं। वह नई आई है। शोख है। और बेबात हँसती है। किसी कदर बदन की दोहरी है। दवा देने से पहले बात करती है। बात करने से पहले मुस्कराती है। यह सब ड्यूटी में शामिल नहीं हो सकता। इसकी उससे मांग नहीं है। और यह अयाचित है। फिर हँसने और सब से बोलने-चालने की उसे क्या लाचारी है ?

उस पर नर्स की इस व्यर्थ निष्प्रयोजन बात से हमारे वार्ड की हवा बदल गई है। मरीज महसूस करते हैं कि वे आदमी हैं। वे ये भी महसूस करते हैं कि नर्स सिर्फ नर्स नहीं है, वह स्त्री है।

खैर, पहले रोज वह सिरहाने आई और हँसकर बोली—"दवा, मेजर, तुम्हें खुद मुझसे ले लेनी होगी, मैं नहीं दूँगी, हाथ बढ़ाओ।"

तब मुझे बहुत कौतुक मालूम हुआ—बोली—"कोशिश करो, पर देखो मेरा हाथ न छूना।"

मैंने तब मन की बात उससे कही। कहा—"एक काम करो,चुपकेसे यह दवा नीचे गिरा दो, तुम बड़ी अच्छी हो।"

एक साथ मुँह पर डर लाकर वह बोली, "ओ बाबा। कोई देख लेगा!"

मैंने कहा—"कोई नहीं देखेगा, तुम्हारी बड़ी मेहरबानी होगी!"

बोली—"अच्छा, तो तुम मेरा हाथ भी छू सकते हो। लो, अब तो पिओ!"

इस पर मैंने उसके हाथ से दवा ली और गटक गया।

अगले दिन वह नर्स सिस्टर के साथ आई। मेरा चार्ट और दवा आदि दिखाकर बोली—"देखिए, क्या इनकी दवा अब बदली नहीं जा सकती? यह शिकायत करते हैं कि दवा इन्हें माफिक नहीं आती?"

सिस्टर ने चार्ट को गौर से देखा फिर मुझसे पूछा।

खयाल नहीं कि क्या पूछा, उनकी गर्दन मेरे ऊपर कुछ और झुकी हुई थी। मुंह कुछ पूछ रहा था और आँखें मेरी तरफ देख रही थीं। आँखों में कुछ तैरती हुई वस्तु थी। तमाम चेहरे पर ही कुछ था, जिससे मैं स्तब्ध रह गया। मैं नहीं सुन सका कि मुझसे क्या पूछा जा रहा है। यानी सुनकर ठीक-ठीक तरह से समझ नहीं सका। उस चेहरे के भाव में मैं खो गया। होश मुझे तब हुआ, जब मैंने पाया कि मेरा हाथ उनके हाथोंमें है। और वह उसके नाखून देख रही हैं। फिर उन्होंने मेरी आँखों

के पपोटे खोलकर देखे। पेट का जख्म देखा। सब देखकर नर्स से मुड़कर पूछा—"डाक्टर से कहा था ?"

नर्स ने कहा—"यह मरीज़ कभी किसीसे कुछ नहीं कहता। अब तक एक बार भी यह चीखा-चिल्लाया नहीं है। ज़ख्म बेहद गहरा है और दर्द न होना असम्भव है।"

मैंने बीच में टोककर कहा—"दर्द मुझे नहीं है। होता ही नहीं है।"

सिस्टर ने इस पर मेरी ओर देखा, मुस्कराकर बोली—"तुम्हारा क्या मतलब ?"

मैंने कहा—"शायद मेरे दिमाग़ की नसें कहीं जड़ हो गई हैं, दर्द को मेरी चेतना तक नहीं पहुँचातीं।"

अपने सम्बन्ध में किसी सहानुभूति की आवश्यकता से उन्हें निश्चिंत बना देना चाहता था। इसलिए मानो किताब से ही शब्द उठा कर मैंने उन्हें कह दिए थे। मुझे अपने प्रति किसी की सहानुभूति अच्छी नहीं लगती। यह काफी शर्म थी कि बिस्तर पर पड़ा था। उसके ऊपर किसी की सहानुभूति भी व्यय करनी पड़े, यह तो असह्य ही था। और फिर स्त्री।

सिस्टर आँख फाड़कर मुझे देखती रही। अनायास दोहराकर यही बोली—"क्या मतलब ?"

यह बात जैसे उसने मुझसे नहीं पूछी हो, स्वयम् अपने से ही पूछ रही हो।

मैंने उत्तर में कुछ-का-कुछ बक दिया। कहा "जैसे आप के पास बाहरी साधन हैं, जिनसे दर्द के अनुभव को मन्द या बन्द किया जा सके, इसी तरह अन्दर के साधन हैं। हम भारतीयों में यह योग-विद्या प्राचीन है। चाहे शरीरके टुकड़े-टुकड़े भी होजायँ,तब भी सम्भव है कि कष्ट न अनुभव हों।"

सिस्टर विस्मित भाव से मेरी ओर देखती रही।

उस समय मैं प्रगल्भ हो योग-क्रिया की अद्भुत महिमा बताने लगा। सुनते-सुनते बीच में सिस्टर ने झुककर मेरे माथे पर हाथ रखा, और कहा—"अब कुछ सो जाओ तो अच्छा है।"

मैं इस बात पर असंतुष्ट-भाव से सिस्टर को देख उठा। कहा—"योग-शक्ति जिसके पास है उसे हफ्तों नींद न आए तो पर्वाह नहीं।"

सिस्टर सुनकर मेरे तकिये के पास बैठ गई। बोली—"अब बोलो नहीं, कृपया चुप होकर सो जाओ!"

मैंने कहा—"मुझे नींद की आवश्यकता नहीं! क्या आप समझती हैं कि मैं रात में सोता हूँ?"

सिस्टर ने अपने हाथ मेरी आँखों पर रख दिए और स्नेह-भाव से कहा—"अब तो मैं कह रही हूं—सो जाओ।"

'यह मैं कह रही हूं' कहने वाली 'मैं' ऐसी मेरी कौन है कि मुझे सो जाना होगा। क्षण के सूक्ष्म भाग तक यह प्रश्न मन में घूमकर स्वयं ही जैसे खो गया। उन हाथों के नीचे आँखों को बन्दकर मैं सब तरह की योग-विद्या को किनारे करके सोना चाहने लगा।

नर्स सिस्टर के पीछे खड़ी हुई थी—उससे कहा—"तुम अब जा सकती हो।"

कहकर, वह मुझे आँखें खोलते देखकर बोली—"डरो नहीं, मैं बैठी हूं। सोने की कोशिश करो।"

मैं सोने की कोशिश करने लगा। सोने की कोशिश सब तरह की कोशिशों का अभाव ही है। स्नायु के तनाव शिथिल हो रहें तो नींद आप आ जाती है। सिस्टर के पास होने से सचमुच एक शिथिलता-सी देह में आने लगी। अपने-पन का मान अनावश्यक-सा हो चला। थोड़ी देर बाद मैंने कहा—"अब तुम जा सकती हो, सिस्टर!"

"तुम बात तो नहीं करोगे?"

"नहीं।"

"आँखें भी नहीं खोलोगे?"

"नहीं।"

"वचन दो तो मैं जा सकती हूँ।"

सच यह कि सिस्टर का इस तरह किसी के सिरहाने बैठना वैधानिक नहीं है। पर देखता हूँ कि इन सिस्टर से विधान नीचे है। इनके सम्बन्ध में पाबन्दियाँ उतनी कड़ी नहीं देखी जातीं। यहाँ सब उनको मानते हैं और आदर करते हैं।

मैंने कहा—"वचन भी देता हूँ, तुम जा सकती हो।"

उसने हाथ मेरे चेहरे पर से हटा लिया। मैं आंखें बन्द किये पड़ा रहा। लेकिन उन्हें उठकर जाने की जल्दी नहीं मालूम हुई।

बोली—"यहां परदेश में तुम्हें बहुत अकेला लगता होगा?"

मैं सुनता हुआ चुपचाप आँख मूँदे पड़ा रहा।

बोली—"हिन्दुस्तान हमारी लड़ाई में लड़ रहा है—यह उसका बड़ा अहसान है।"

इस बिन्दु पर मेरे मन में दुःख है। अंग्रेज़ की न्याय से अधिक मतलब पर आँखें नहीं हैं, यह अपने अनुभव के आधार पर मैं नहीं कह सकता। इसलिए उस बात पर छेड़ा जाना मैं पसन्द नहीं करता, और मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

बोली—"हिन्दुस्तान हमारे अधीन है इसलिए हमारी लड़ाई उसके लिए प्रिय हो सकती थी। पर आप लोग लाचारी से नहीं, खुशी से जान दे रहे हैं। इस पर भगवान के सामने मेरा सिर नीचा हो जाता है। तुम यहाँ बहुत अकेले तो नहीं हो?"

मैंने कहा—"नहीं।"

"नहीं" इसलिए कहा कि मैं किसीसे इसकी चर्चा नहीं करना चाहता था। अंग्रेज़ों में हम कालों के लिए प्रेम सचमुच नहीं है। हम से काम ले सकते हैं, मन नहीं मिला सकते। पर इस बात की मुझे शिकायत क्या करनी है?

बोली—"अबसे इकले न रहोगे।"

मैंने कुछ चिढ़कर धीमे से कहा—"धन्यवाद, मैं सोने की कोशिश कर रहा हूँ—आप जा सकती हैं।"

"मुझे दुःख है" कहती हुई वहाँ से उठकर वह चली गई।

आज का यह दिन अस्पताल के और दिनों से कुछ अलग ही तरह का था। इस समय मुझे मालूम हो रहा था कि रोना दुर्गुण नहीं है, मैं रोना चाहता था। दुःख से मैं नहीं घबराता हूँ, पर सुख मुझसे नहीं झिलता। शायद सुख के कारण ही मैं उस समय रोना चाह रहा था। खैर, मन का और शरीर का तनाव सिस्टर के सानिध्य से शिथिल हो रहा था, और मुझे नींद आ गई थी।

उसके बाद अगले रोज ड्रैसिंग के समय घाव में मुझे पहली बार दर्द मालूम हुआ। मैंने ऊपर को निगाह कर अपने आसपास देखा। वह सिस्टर इस समय नहीं थी। वह होती तो मैं कराहकर कहता कि सिस्टर मुझे दर्द मालूम पड़ता है। लेकिन जब दूसरों के चेहरों को देखा तब लगा कि दर्द मुझे व्यर्थ ही मालूम हुआ है। और सदा की भाँति धीरे और प्रसन्न भाव से अपने ऊपर ड्रैसिंग का काम मैंने पूरा करा लिया।

डाक्टरों के चेहरे का विस्मय देखकर मैं उल्टे उन्हें ढाढस देता था कि आप अपना काम बेफिक्री से कीजिए, मुझे किसी तरह की कोई तकलीफ नहीं होगी।

दवा देने के लिए नर्स वही आई। हँसकर बोली—"दवा नहीं है, शर्बत है। पीकर देखो।"

मैंने कहा—"शर्बत क्यों है?"

बोली—"सिस्टर स्वयं जो मीठी हैं।"

सुनकर मैंने गिलास लिया और दवा मुँह में डाल ली। इस बार वह सचमुच मीठी थी। मैंने कहा—"क्या मजाक है? मुझे दवा दी जा रही है या बहकाया जा रहा है? कृपया डाक्टर से कहिए, मैं बच्चा नहीं हूँ।"

नर्स का चेहरा सुनकर बेरंग हो गया, बोली—"लेकिन यह दवा ही है—नई दवा है।"

मैंने कहा—"दवा को कड़वा होना चाहिए। मेरी दवा को तो जहर होना चाहिए। मैं फौजी हूँ, सिविलियन नहीं हूँ। आप लोग···इस तरह की दवा मैं कभी नहीं पीऊँगा।"

नर्स हैरत में होकर मुझे देख उठी थी। उसके चेहरे को देखकर मुझे अपना रोष अत्यन्त व्यर्थ मालूम हुआ और मैंने कहा—"मुझे खेद है, नर्स। मेरी बात ख्याल में न लाना। तुम तो इस वार्ड की रौनक हो। तुमसे मैं नाराज कैसे हो सकता हूँ?"

मुझे मुस्कराता हुआ देखकर क्षणभर में वह आश्वस्त हो आई और बोली—"आपने तो मुझे डरा दिया। सिस्टर को भेजूँ?"

"हाँ, कृपया भेजो।"

थोड़ी देर में सिस्टर आ गई। अब मुझे मालूम हुआ कि गुस्सा मुझे क्यों था। गुस्सा सिस्टर पर था। वह इसलिए था कि सिस्टर क्यों इतनी शान्त, मृदुल और सहानुभूतिशील है। मैं यह सब बिलकुल पसंद नहीं करता। आदमी को मैंने अनावृत देखा है। भीतर हर कोई नंगा है, ऊपर कपड़ों का परदा है। अंदर से वह स्वार्थी है, विषयी है और हिंसक है। संस्कारिता ऊपरी है, भीतर तत्व पशुता है। इसीलिए मानो सिस्टर मुझे धोखा दे रही है—ऐसा कुछ मुझे उस पर गुस्सा आ रहा था।

उसके आते ही मैंने कहा—"मैं हिन्दुस्तानी हूँ, तो क्या मेरे साथ मजाक किया जायगा? अब से नई दवा मैं हरगिज नहीं लूँगा। मैं दवा के लिए नहीं हूँ!"

सिस्टर ने क्षणभर मेरी ओर देखकर नर्स से पूछा—"क्या है?"

नर्स ने घबराकर कहा—"मैंने तो वही दवा दी थी!"

सिस्टर ने मुझसे पूछा—"दवा में खराबी थी?"

मैंने जोर से कहा—"हाँ, वह दवा नहीं थी। नर्स पर बात को न

टालिए, सिस्टर। दवा कड़वी न हो तो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसका मतलब जानती हैं आप, क्या है? मतलब है कि आपको मुझपर करुणा है। अब कृपया सुनिए। मुझ पर करुणा मेरा अपमान है।"

सिस्टर उस पर शांत भाव से मुस्करा आई। बोली—"ओ, यह बात है! नर्स तुम जा सकती हो। सब ठीक है।"

फिर मुझसे कहा—"योग-शक्ति कड़वे को बर्दाश्त कर सकती है, मीठे को नहीं! तब तो वह शक्ति कमज़ोर है।"

कहकर मेरे हाथ उठाकर नाखूनों को देखा और कल की ही भाँति पपोटों को भी देखा। कहा—"दवा नहीं, टानिक है। घाव के लिए अब पीने की ज़रूरत नहीं है। अब तो हमें कमज़ोरीका ही ख्याल रखना होगा।"

मैंने रोष में कहा—"योग-शक्ति को आप नहीं मानतीं?"

उसी मधुरता से बोली—"मानती हूं, पर गुस्से में तो उसका प्रकाश नहीं है?"

मेरी क्या गति थी! कल सिस्टर के जाने के बाद मैं दिनभर सोचता रहा था कि वह आयगी तो मैं कहूंगा कि सिस्टर मुझे ज़ख्म में दर्द मालूम होता है। बहुत मालूम होता है, तुम जाओ नहीं, बैठ जाओ। सोचता था—नाम पूछूंगा, परिचय जानूंगा, अपना परिचय दूंगा। पर सिस्टर सचमुच अब आई है तो बेबात उस पर क्रोध कर रहा हूँ।

मैंने कहा—"दृढ़ता को आप गुस्सा कहती हैं? आपको कुछ अधिक जानना चाहिए!"

सिस्टर सुनकर लज्जित हो आई। बोलीं—"आप मुझसे नाराज़ हैं? हमारे दोष बहुत हैं, पर नाराज़ी से क्या दोष दूर होंगे?"

मैंने कहा—"लेकिन मैं ठीक हूँ। मुझ पर सदय होने का कोई कारण नहीं है।"

सिस्टर ने हंसकर कहा—"लेकिन मुझ पर आप सदय हों, इसका तो कारण है! आपसे योग-विद्या मैं लूंगी। पर अभी तो आप और मैं

दोनों कमज़ोर हैं। योग-विद्या काम की चीज़ है, फिर काम आयगी। पर अपनेको आप कसकर क्यों रखते हैं? खुला छोड़ दीजिए। अस्पताल और विदेश इसे मत मानिए। दर्द में अस्वाभाविक क्या है? हाँ, ग़ैर के सामने दुख दिखाना ग़लत है। लेकिन मैं ग़ैर नहीं हूं। तुमने तो मेरा परिचय भी नहीं पूछा। मेरा नाम बीऽट्रिस है।"

"दाँते की बीऽट्रिस?"

मृदु मुस्कराहट से बोली—"उधर एक स्पेशल वार्ड आज खाली हो रहा है। यह पास ही है। वहाँ जाना नापसंद तो नहीं होगा?"

मैंने विस्मय से पूछा—"क्यों?"

हँसकर बोली—"क्योंकि जहाँ तक मैं समझती हूं, उसमें नापसंदगी की कोई बात नहीं है।"

मैंने उस पर आँख गड़ाकर कहा—"लेकिन क्यों?"

बोली—"व्यवस्था ऐसी ही हुई है!"

हाल के एक ओर सिस्टर का कमरा है। वार्ड की देखभाल उन पर है। सामने एक कमरा दवा के लिए है, दूसरा सामान के लिए और तीसरा मुलाकातियों के लिए है। उसके मुकाबिले सिस्टर के कमरे से लगे हुए दो स्पेशल वार्ड के कमरे हैं। उन सबमें आपस में रास्ता है। ये कमरे ज़्यादातर ऊँचे लोगों के काम आते हैं। सबकी इच्छा वहाँ जाने की रहती है। इसीलिए मैं अचरज में पड़कर बार-बार बीऽट्रिस से क्यों-क्यों पूछता रहा।

मैंने कहा—"मैं यहाँ से जाना नहीं चाहता। यहाँ सब तो ठीक है।"

बीऽट्रिस ने कहा—"मैं अस्पताल की मालिक नहीं हूं। जो व्यवस्था हुई है, मैंने कह दी, यहाँ की व्यवस्था में भंग नहीं पड़ा करता है। और मैं इसमें लाचार हूं।"

परिणाम यह हुआ कि तीसरे पहर मैं स्पेशल वार्ड में आ गया। वह एक बेड का स्वतंत्र कमरा था। और दोनों ओर दरवाज़ों से बराबर के कमरों से जुड़ा हुआ था। बाईं ओर बीऽट्रिस का दफ़्तर था।

मैं उस समय अपने को नहीं जानता था। मुझमें गुस्सा भी था और बहुत नीचे उस गुस्से की जड़ें ढीली भी हो रही थीं। अर्थात् वह आदत का, प्रतिक्रिया का, रोब था जो जल्दी-से-जल्दी निकलकर अपने को चुका डालना चाहता था। अन्यथा दूसरी तरह मैं अपने व्यवहार की व्याख्या नहीं कर सकता।

इस कमरे में आकर डाक्टरों की निगाह में मैं कुछ दूसरा ही मरीज़ होगया था। झींकता और चिल्लाता भी था। ड्रेसिंग के वक्त ज़रा-ज़रा दर्द पर आवाज़ करता और हाथ बढ़ाकर डाक्टर या नर्स के हाथ को झटका देकर अलग कर देने की कोशिश तक भी कर बैठता था। ड्रेसिंग के वक्त इसलिए दो-तीन आदमी मेरे हाथ पाँव पकड़ने को ज़रूरी होगये थे। यह, तब, जबकि ज़ख़्म काफ़ी भर आया था और अन्दाज़ था कि पन्द्रह-बीस रोज़ में स्वस्थ होकर अस्पताल से चला जा सकूंगा।

ख़ासकर सिस्टर से मेरी नहीं बनती थी। एक बार तो उसके हाथ से छीनकर खुला थर्मामीटर मैंने फर्श पर फेंक पटका। वह टूटकर चूर-चूर होगया। सिस्टर जब आती, उसके साथ मेरी बक-झक हो जाती। दफ़्तर जो उसका बराबर था इससे नर्स कम और सिस्टर ही अधिक आया करती थी। दवा तक अधिकांश वही पिलाती थी। निर्णयों में मैं कभी किसी तरह का फेर नहीं ला पाता था। मीठा टानिक मिला। इस कमरे में आ गया और उसके बाद मुझसे बिना पूछे निर्णय किये गए, मेरे सब विरोध के बावजूद उनका पूरी तरह पालन हुआ। मुझे झींक इस बात की थी कि उन सब निर्णयों में मेरी सुविधा और आराम का ही विचार प्रधान था। यह बात मुझे एकदम असह्य हो आती थी। यह और भी असह्य था कि मैं क्रोध करता हूँ और बीऽट्रिस एक का भी उत्तर नहीं देती। उसकी आवाज़ ज़रा भी ऊँची नहीं होती, उलटे मेरे आराम के नए-नए ढंग रचती रहती है।

मेरी जिन्दगी और ही आदर्श पर गढ़ी थी। मैं अपने में पूर्ण वृत्त की भाँति रहता आया था। आत्म-निर्भर था और किसी को अपने ऊपर,

ज़िन्दगी के साथ शामिल न होने देता था। पत्नी भी अलग थी, बच्चे भी अलग थे। दुनिया के सब लोग अलग थे और असंख्य पुरुषों के इस जगत में मैं अकेला था। अकेले रहने का आदी हो गया था। इस आदत और विश्वास के बल पर मेरी उन्नति की गति तीव्र होती चली गई। मामूली हवलदार से शुरू होकर तब ४२ वर्ष की अवस्था में मैं मेजर था। मेजर ही न था, लोगों की निगाहों में मैं उससे भी महत्व-पूर्ण था। समझा जाता था कि मेरी तरक्की का कोई अन्त नहीं है। और मैं जहाँ तक न पहुँचूँ, थोड़ा है—ऐसी साथियों को मेरे सम्बन्धमें धारणा थी।

लेकिन अस्पताल के अन्तिम दिनों में लोगों की आशाएँ मुझसे टूटने लगीं। मैं अन्दर से कमज़ोर दीख आया। मामूली रोगी की तरह रोता, झींकता, ज़िद करता, हाथ-पैर पटकता, उन्होंने मुझे देखा और देखा कि अपने पर मेरा काबू प्रकृत नहीं है।

अचरज यह कि मेरी स्वयम् की सम्मति अपने बारे में गिरती जाती थी। दूसरे मुझे क्या समझते हैं—यह बात पहले मुझे इतना परेशान न करती थी। मैं अत्यन्त विश्वस्त था और लोगों को मुझे ऊँचा ही समझना पड़ता था। अब अपने संबंध में मेरी निगाह औरों के साथ चलने को लाचार हो रही थी। इस सबसे ,मुझे झुँझलाहट थी, और वह बीऽट्रिस को लेकर प्रकट होती थी।

बीऽट्रिस ने कहा—"आपका जख्म तेज़ी से भर रहा है। बाहर आपके लिए तीन साल की आराम की छुट्टी का हुक्म आ गया है। इस खबर पर ज़रूर आपको मुझे 'थैंक्यू' कहना चाहिए।"

मैंने कहा—"थैंक्यू"

"आज से आप पैरों से टहल भी सकते हैं। कुर्सी से आप को नफ़रत थी ही। अब—"

मैंने कहा—"दवा मैंने पी ली। कुछ और बाकी है ?"

कुर्सी खींची और उस पर बैठती हुई वह बोली—"हाँ, बहुत बाकी है।...तुम इतने चिढ़े क्यों हो ?"

मैंने कहा—"यही बात है, तो होगी। मुझे रहने दो।"

कुर्सी और पास सरका कर हाथ बढ़ाकर मेरे माथे पर रखा। कहा—"बहुत थक गए हो ?"

मैंने उलटी तरफ़ करवट ले ली और कुछ नहीं बोला। आज मुझे अचरज है कि तब रूठे बालक की तरह व्यवहार करने में मुझे क्यों लज्जा नहीं हुई।

करवट मैं पूरी तरह नहीं ले सकता था, लेकिन करवट के लिए तो मुझे करवट लेनी न थी।

"जिन्दगी से हो थक गए हो ! पर अभी तो तुम्हें बहुत करना है। युग-युग रहना है। सुनो, इधर देखो—"

माता बालक को किस भाँति मनाती है, यह बचपन में अनुभव में आया होगा। लेकिन इस समय वह माता ही मालूम हुई। इसकी उम्र मुश्किल से तीस वर्ष होगी। पर फिर भी स्वर में क्या बात कहाँ से आ गई कि मेरा अभिमान भीतर से व्यर्थ होता हुआ गलने लगा, यह कह नहीं सकता। अपने को छीलने की आदत मुझे बिलकुल न थी। स्त्रियों को काबू में ही करता आया हूँ। लेकिन इधर आकर मैं एक विलक्षण विवशता अनुभव कर रहा था, और विवशता में सुख।

"देखो, इधर देखो, रघु !"

मैंने स्पष्ट रूठी आवाज़ में कहा—"हटो, रहने दो।"

इस पर उसने दूसरा हाथ बढ़ाया। और दोनों के बीच मेरी कनपटियों को थामकर सीधा कर दिया। बड़े मृदु भाव से कहा—"गोरी हूँ, इससे मुझसे नफ़रत करते हो ?"

मैंने कहना चाहा कि 'हाँ' लेकिन कुछ कहा नहीं, अपनी आँखों के सामने टँगे चार्ट पर निगाह जमाये रहा।

उसने हाथ खींच लिये और बोली—"नफ़रत अच्छी चीज़ नहीं है, रघु ! उससे दिल सख्त होता है। वह भीतर से हमें खाती है। दुनिया में बहुत नफ़रत है, और लड़ाई है। हम-तुममें लड़ाई है। मैं अंग्रेज़

हूं, तुम हिन्दुस्तानी हो। दोनों यह बात याद रखते हैं। और नफ़रत में जीना चाहते हैं। पर हमारे ही अन्दर का मन उस नफ़रतको नहीं चाहता। उस अपनी अन्दर की सचाई को हम दबाते हैं, और नफ़रत सीखना चाहते हैं। तुम, रघु, ऐसी ही कोशिश कर रहे हो। पर तुम मुझे नफ़रत नहीं कर सकते। करना चाहते हो, पर नहीं कर सकते। मैं बीऽट्रिस हूं, तुम रघु हो। हर घड़ी बार-बार अपने को हम कितना भी याद दिलाएं कि तुम हिन्दुस्तानी या मैं अंग्रेज़ हूँ तो भी अन्दरकी यह बात ऊपर आ ही जायगी कि हम दोनों ही इन्सान हैं—तुम रघु हो मैं बीऽट्रिस—यह क्या, रोते हो ?"

मैंने बीऽट्रिस की तरफ़ नहीं देखा। आँसू भी नहीं पोंछे। मैं सामने ही बिना इधर-उधर देखे टकटकी बाँध चार्ट को देखता रहा। आँसू थे, फिर भी मानो मैं बहना नहीं चाह रहा था।

"छिः, रोने की क्या बात है ? पर रोना अच्छा है, रघु ! मुझे बहुत रोना पड़ा है। उससे बड़ा लाभ हुआ है। उसमें मेरा सब मान गलकर बह गया है।—तुम्हें मैं अपना परिचय देना चाहती थी। तुम झिड़कते रहे, टालते रहे। पर मैं भी दुखिया हूँ, रघु। लोग समझते हैं—लार्ड की बेटी हूँ, पर अकेली हूँ, अकेली थी, सब थे, पर कोई न था। मैं अपने दर्प में बन्द थी। फिर क्या हुआ, सुनोगे ?"

इस समय अनजाने मेरा हाथ टटोलता-टटोलता बीऽट्रिस के हाथ तक जा पहुंचा था। मेरी उँगलियों के सिरे उसकी उंगलियोंको छूते हुए वहाँ रखे थे। अब मैंने उस हाथ को खींचकर अपनी आँखों पर लिया। उसीसे आसू पोंछे और फिर इस हाथ को अपने दोनों हाथों से थामकर तनिक उसकी ओर करवट लेकर कहा—"सुनूँगा बीऽट्रिस, सुनाओ !"

बीऽट्रिस करुण मुस्कराहट से मेरी ओर देखकर बोली—"उसे जाने दो—पर एक वर्ष से इस अस्पताल में आ गई हूँ, और अब मैं अकेली नहीं हूँ। अपने यीशु को साथ ले लिया है। तुम जानते ही हो कि इकलेपन का त्रास आदमी को कितना प्यारा हो जाता है। अस्पताल

से पहले मैं एक मठ में थी। अपना दुख लेकर सोचती थी कि भगवान् के भजन में रहूंगी, बाहर का कोई सम्पर्क नहीं रखूंगी। मठ में एक कोठरी में पूरे एक साल बन्द रही। हर पल भगवान् का ध्यान रखती थी। पर मेरा इकलापन मुझसे नहीं गया, रघु, मेरी पवित्रता की ख्याति हुई, पर ख्याति ने मुझे और इकला कर दिया। तब मठ छोड़कर मैंने नर्स का काम सीखा। लार्ड की लड़की उस पवित्रात्मा बीऽट्रिस को छुट्टी देकर नर्स बनकर मैं रोगियों की सेवा में आ गई। तब से रघु मैं अकेली नहीं हूँ। सब मेरे हैं। रघु, अभिमान में हम अकेले हैं। आँसू से अभिमान कटता है। अरे लो, तुम फिर रो रहे हो!"

मेरी आँखों में फिर आँसू डबडबा आए थे। अपने हाथों में पड़े, उसके हाथों को खींचकर मैंने अपनी कनपटी के नीचे रख लिया और धीमे से कहा—"बीऽट्रिस!"

हाथ खींचने में वह कुर्सी से काफी अधिक झुक आई, बोली—"यह क्या करते हो?—तुम कमजोर हो!"

सुनकर मैंने दूसरे हाथ को पकड़ने के लिए अपनी बाँह बढ़ाई। बीऽट्रिस हंसती-सी बोली—"यह क्या पागलपन है, रघु?"

मैंने मुँह से कुछ नहीं कहा। आँख के मेरे आँसू सूख गए। मैंने ज़रा आगे को सरककर अपनी बाँह को आगे को और बढ़ाया—

"यह क्या कर रहे हो, रघु? पता नहीं ऐसे तुम्हें सरकना नहीं चाहिए। तो लो, मैं यहीं बैठ जाती हूँ।"

सिरहाने बैठी हुई बीऽट्रिस का दूसरा हाथ मैं खींचकर मुंह तक लाया। और हलके से चूम लिया।

बीऽट्रिस शान्त मुस्कराहट से बोली—"रघु, पागल हो रहे हो! मुझे अब जाने दो।"

वह दिन रोज़-रोज़ नज़दीक आ रहा था। मेरी कुछ समझ न आता था। जैसे होनहार स्वयम् हमारे ही द्वारा ऐसे अचूक और अनायास भाव से होता रहता है कि हम स्वयम् ही उसके साधन होते और स्वयम्

ही अपने को विवश अनुभव करते हैं। मैं जानता था कि मैं हिंदुस्तान जा रहा हूं। और यह भी जानता था कि न जाऊँ तो मुझे वहाँ कोई भेजने वाला नहीं है। फिर भी जैसे मैं अपनी इच्छा या वश से नहीं जा रहा था। जैसे मेरी जगह कोई और 'मैं' जा रहा हो। मैंने कहा—"बीऽट्रिस"। और आगे मुझसे कहा नहीं गया। इस वक्त अपने कमरे में आराम-कुर्सी पर लेटा था और वह बराबर स्टूल पर बैठी थी।

बोली—"कितने वर्षों में घर लौट रहे हो? बड़े खुश होगे? और मुझे भी बड़ी खुशी है।"

मैं सिगार पीता रहा और कुछ नहीं बोला।

बीऽट्रिस हंसकर बोली—"अब आगे अंग्रेज़ों की नौकरी न करना। न उनसे नफ़रत करना।"

मै अपने ही ख्याल में था। ऐसे चुप रहते शायद मुझे देर हो गई। बीऽट्रिस ने कहा—"क्या सोच रहे हो?"

मैंने उधर मुड़कर देखा। कहा—"बीऽट्रिस, तुमने मुझे क्यों अच्छा किया?"

बीऽट्रिस क्षीण मुस्कराहट से मुझे देखती रही। मैं अपने ही ज़ोर में कहता गया—"मुझसे यह दुश्मनी तुमने क्यों की? और क्या मैं अच्छा हूँ? अच्छा कहकर तुम मुझे छोड़ना क्यों चाहती हो, बीऽट्रिस?"

बीऽट्रिस ने कहा—"तुम्हारा घर हिन्दुस्तान है। मुझे खुशी है कि अब तुम घर जाने लायक हो। अब पागल मत बनो।"

मैंने स्टूल पर बैठी-बैठी ही का हाथ पकड़कर अपनी तरफ खींच लिया। वह आकर मेरी गोद में गिरते-गिरते बची।

मैं स्वयं उस हाथ का चुम्बन लेकर सहम गया। मैंने तत्काल हाथ छोड़ दिया। मेरी आँखें निराश थीं और उनमें प्रार्थना शेष थी।

बीऽट्रिस खड़ी हो गई। मेरी ओर देखकर जैसे उसमें करुणा का

ज्वार आ गया। जल्दी से बोली—"देखो न, कितने कमजोर हो गए हो! उत्तेजना ऐसे समय नुक्सान पहुंचायगी।"

मैंने अवश भाव से कहा—"बीऽट्रिस!"

तब उसने झुककर, हंसकर धीमे से मेरा हाथ दबाया। कहा—"फिर आऊँगी" और चली गई।

इसके बादसे मेरी हालत कुछ और ही हो गई थी। मुझे सहिष्णुता की, धैर्य की, संयम की आवश्यकता ही न थी। एक प्रकार के दुख-मय सुख से मैं भरा रहता था। दुख उसका मैं ही जानता था, सुख उसका मेरे चेहरे पर से सबको प्राप्त होता था। ड्रेसिंग के समय या और समय नर्स-डाक्टरों के समक्ष न संयत चुप रहता था, न दर्द की शिकायत करता था। बल्कि हँस-खुलकर बात कर सकता था और दर्द होता था, तब भी हंसकर ही दर्द का उन्हें उलाहना देता था।

वह अनुभव मेरे जीवन में विलक्षण है। बीऽट्रिस अब सवेरे एक बार ही मेरे पास आती। कहती कि तुम तो अच्छे हो रहे हो। अब मुझे सवेरे आने की भी ज़रूरत नहीं है। मैं चुपचाप उसे देखता हुआ पड़ा रहता था। लेकिन वह भेंट मेरे लिए इतनी काफी थी कि ऐसा लगता कि मैं कुछ और नहीं चाहता और अगले सवेरे तक मैं प्रसन्न और शान्त रहता।

अब अस्पताल से छुट्टी मिलने में दो दिन रह गए थे। हिन्दुस्तान जाने का मेरा प्रबन्ध हो गया था। एक हफ्ते अस्पताल से निकलकर मुझे बाहर रहना था, फिर जहाज़ से रवाना हो जाना था।

बोली—"यह क्या है, रघु?"

मैं उस समय एक साथ साहसी और कातर बन आया। बिना हाथ छोड़े कहा—"तुम यहाँ मेरे पास कुर्सी की बाँह पर आ बैठो!"

वह वहाँ बैठ गई। बोली, "क्या है रघु? तुम अशान्त क्यों हो रहे हो? मैं बैठी तो हूँ?"

उस समय शब्द बेकार हो गए। और मैं उसका हाथ अपने हाथों

में लिये बिना बोले बीऽट्रिस को देखने लगा। उसकी आँखों में तिरस्कार नहीं, धिक्कार नहीं, एक स्निग्ध करुणा थी। क्षणभर इस तरह देखते रहकर मैंने झटके से उसे अपने ऊपर गिरा लिया।

वह बोली—"हें—हें, तुम अभी कमजोर हो।"

मैंने कहा—"बीऽट्रिस !"

वह अपने को अलग करके खड़ी हो चुकी थी।

बोली—"रघु, तुम बच्चे हो ! ख्याल करो कि तुम कितने कमजोर हो !" कहकर जाने लगी !

मैंने कहा—"मुझे माफ करना, बीऽट्रिस।"

चलती-चलती बोली—"क्यों रघु, नाराज हो गए ?"

मैंने कहा—"नहीं, मेरी धृष्टता को भूल जाना।"

उस समय बीऽट्रिस ने इस दृष्टि से मुझे देखा कि मैं जन्म-जन्म तक बिसार नहीं सकता। उसीके कारण कह रहा हूं कि उसकी-सी पवित्रात्मा दूसरी होगी, इसका मुझे विश्वास नहीं है।

क्या उसकी आँखों में आँसू थे ? पर वह मुस्करा रही थी। उस चेहरे पर अपार करुणा थी, बोली—"रघु,अभी कितने कमजोर हो,अधीर न होओ।"

मैं फिर दो दिन तक शान्तभाव से अपने कमरे में रहा। सबसे हंसता-बोलता था। बीऽट्रिस दोनों दिन मेरे पास नहीं आई। अब मैं स्वतन्त्र था। वार्ड में घूम-फिर सकता था। और दवा का क्रम यद्यपि जारी था, पर विशेष पाबन्दी न थी। सिस्टर-बीऽट्रिस का दरवाजा अब दूसरी तरफ से बन्द ही रहता था।

अगले सवेरे मुझे जाना था। शाम के वक्त बगीचे में मैं घूम-फिर आया। अब आराम-कुर्सी पर लेटा कुछ पढ़ रहा था। उसी समय बीऽट्रिस आई।

मैंने कहा—"बीऽट्रिस,अब तुम आई ? आखिर क्यों आई ?"

"रघु, तुम नाराज हो ? सवेरे तो जा रहे हो, नाराजी में जाओगे ?

मेरी अंग्रेज जाति से तुम नाराज होकर न जाने पाओगे, रघु, इसके लिए समय निकालकर मैं आ रही हूं।"

मैंने कहा—"समय निकालकर ? अत्यन्त धन्यवाद।"

"लेकिन रघु, तुम तो अच्छे हो। मेरा समय रोगियों का है। मेरा वह अपना तक भी तो नहीं है। तुम मुझे माफ नहीं कर सकोगे ?"

मैंने कहा—"कल सवेरे तक न आती तो कुछ बुराई न थी, बीऽट्रिस ! मैं अच्छा तो हो ही गया हूं।"

बोली—"रघु, तुम कठिन हो। अपने साथ अन्याय न करो। तुम कठिन नहीं हो, नहीं होना चाहिए—मैं आ तो गई हूं।"

मैंने हँसकर कहा—"मैं अच्छा हूँ, तुमने मुझे अच्छा किया है ! ......कौन कहता है कि मैं अच्छा हूँ ? तुम भूल में हो, बीऽट्रिस। जख्म लेकर जरूर मैं बीमार नहीं हूँ। पर अब तो ऐसी हालत है कि अस्पताल में भी मुझे जगह नहीं है।"

वह कुर्सी की बाँह पर आकर बैठ गई। किताब मेरे हाथ से लेकर बन्द करके उसने एक ओर रख दी। कहा—"क्या बकते हो ! किताब ने दिमाग तो खराब नहीं कर दिया ? चलो, उठो।"

उठकर वह मुझे बाहर को ओर ले चली। मैंने कहा—"कहाँ चल रही हो ?"

बोली—"इतनी सरदी नहीं है, अभी खुले में घूम सकते हो !"

मैंने कहा—"बीऽट्रिस एक बात मानोगी ? सिनेमा चल सकोगी ?"

अचरज में भरकर वह एकाएक बोली—"सिनेमा !"

मैंने कहा—"मैं कल जा रहा हूं, बीऽट्रिस ! और हमेशा से ज्यादा बीमार हूँ। अच्छा हूँ, इसी आधार पर तुम मुझे छोड़ सकती थीं। बीमार को कैसे छोड़ सकती हो ?"

बोली—"सिनेमा ! लेकिन अस्पताल के मरीज तो रात को कोई बाहर नहीं जा सकते ? और मैं तो सिनेमा जाती नहीं !"

मैंने कहा—"तो जाने दो, बीऽट्रिस।"

कहकर मैंने अपनी निराशा को अन्दर ही पी लिया, और चुप हो रहा। कुछ अनन्तर आप ही वह बोली—"लौटते समय यहाँ का फाटक जो बन्द हो जायगा।"

"कहता तो हूँ, बीऽट्रिस, जाने दो।"

बोली—"हाँ, जाने दो। मेरी भी रुचि नहीं है।"

उसके बाद मैं कुछ नहीं बोला। नीचे लान में आकर हम टहलते रहे। तबसे एक शब्द मैंने मुँह से नहीं निकाला। वह भी चुप रही। उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले रखा था। मेरे हाथ की उँगलियाँ निर्जीव-सी वहाँ लटकी हुई थीं। इस तरह चुपचाप दसेक मिनट हम घूमते रहे। एकाएक वह बोली—"सिनेमा जरूर ही देखना चाहते हो? कल तो बाहर होगे? चाहे जितना देख लेना।"

मैंने कहा—"बीऽट्रिस, छोड़ो सिनेमा, छोड़ो मुझे। जाकर सो जाओ।"

कुछ देर मेरा उत्तर लेकर जैसे वह सोचती रही—

"तो आओ, मेरे साथ आओ!"

अपने क्वार्टर में मुझे वह ले गई। सेविका को वार्ड में एक चिट दे आने को कहा। फिर अपने घर पर ही उसने मुझे भोजन कराया। टेलीफोन से सीट और रात के लिए वहीं बेड्स का तय किया और अपने क्वार्टर के पिछवाड़े के रास्ते से हम लोग सिनेमा चले गए।

सवेरे मैं अस्पताल चला गया। वहीं से छुट्टी पाकर होटल में डेरा डाला। जहाज चलने में सात दिन थे। चौथे रोज से पहले बीऽट्रिस होटल के कमरे में न आ सकी। बोली, "रघु, तुम पागल हो। ऐसी चिट्ठियाँ भेजते हैं? और दिन में कई? लो, मैं आ गई!"

मैंने कहा—"इतने दिन कहाँ लगाये, बीऽट्रिस?"

बोली—"अब भी कुछ ही मिनट ठहर सकूँगी, रघु!"

मैंने उसके दायें हाथ को दोनों हाथों में दबा लिया। वह कुर्सी के बराबर खड़ी थी। मैंने कहा—"बीऽट्रिस, मेरा अब क्या होगा? तुम

साथ नहीं दे सकोगी ?......बीऽट्रिस, बीऽट्रिस, हम चर्च में नहीं चल सकते ?"

बीऽट्रिस बोली—"तुम बहुत इकले, बहुत दुखी हो, रघु ! मैं जानती हूं।"

"हां, बहुत दुखी हूँ, बीऽट्रिस !"

"मैं दुख की ही हूं, रघु, शायद तुम्हें सुखी भी कर सकूं। चाहती भी हूँ।"

मैंने उसे खींचकर पास बिठा लिया। कहा—"फिर क्या है, बीऽट्रिस ? मेरा सब तुम्हारा है। धर्म से कहता हूँ, तुम्हीं मेरी सब हो।

उसकी आंखों में उस समय मैंने परिपूर्ण प्रेम देखा। पर उस पर शान्ति थी, व्यथा भी थी। बोली—"रघु, मैं चल सकती तो ज़रूर चलती। सोचो, मैंने क्या तुमसे बचाया ? तुम्हारा दुख पाना मेरे लिए छोटी प्राप्ति न थी। लेकिन रघु, समझो। तुम्हीं सोचो, अस्पताल में और जो मरीज़ हैं—?"

मैं सुनकर उसकी ओर देखता रह गया। यह स्त्री क्या कह रही है ? क्या उसका अर्थ है ? क्या वह ऐसी निर्लज्जता के साथ पुंश्चली है ? कह नहीं सकता कि उस समय कैसा कठोर भाव मुझ पर छा गया। सुनता हुआ मैं एक ही साथ जड़ीभूत हो गया।

अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से मुझे देखती हुई वह बोली—"रघु, तुम ही सोचो, अस्पताल में और मरीज़ नहीं हैं ? और वह मेरी राह देखते होंगे।"

मैं सुनकर विमूढ़-सा बैठा रहा।

बोली—"अंग्रेज़ से तुम अब घृणा न करोगे, रघु ! यह मुझे कहते जाओ। अब मैं जाऊंगी, भगवान् तुम्हें सदा सुखी रखे।"

कहकर मेरा हाथ लेकर उसने चूमा, और कहा—"मुझे घृणा तो नहीं करते ?"

मैं गुमसुम बैठा रहा। निश्चल भाव से हंसकर उसने कहा—"नहीं, तुम घृणा नहीं कर सकते, मैं जानती हूँ। कहो, किसी भी अंग्रेज़ से नफ़रत नहीं करोगे, रघु।"

मैं सुनता हुआ सब पीता गया। मुझसे और न सहा गया। उठकर कमरे का दरवाज़ा खोलकर उसे दिखाते हुए मैंने कहा—"सिस्टर बीऽट्रिस, अब तुम जा सकती हो।"

मेरा यह भाव देखकर सहसा उसकी आंखों में आंसू छलछला आए, लेकिन मैंने ठंडे लहज़े में दोहराया—"यह रास्ता है, तुम अब जा सकती हो।"

वह क्षण-भर उभरी आंखों से ठिठकी-सी मुझे देखती रही। मैंने कहा—"मुझे फिर दरवाजा बन्द करना है।"

इस पर बिना और कुछ कहे, वह चुपचाप दरवाज़े के बाहर चली गई।

कहकर मेजर, जैसे किसीने मुंह सी दिया हो, एकाएक निर्वाक् हो रहे। मानों उनमें सब गति तब निस्पन्द हो आई। अनन्तर मानो जागकर खिन्न वाणी से बोले—"रायसाहब और डाक्टर साहब! इसी लिए मैं कहता हूँ कि शरीर-सम्बन्ध कुछ नहीं है। मैं आपकी-सी धारणा में पला था। इसी से अपनी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा पाप मैंने यह किया कि उसका अपमान किया। लेकिन जिन सम्मानत्रियों को मैं जानता हूँ, उनमें किसी से भी कम सम्माननीय वह नहीं है—यह निश्चय है।"

चार

उर्वशी

क्लब में बाहर बैडमिंटन हो रहा है, और कुछ लोग कुरसी पर गप-शप कर रहे हैं। लेकिन चार जनों की एक मण्डली इस सबसे बचकर एक छोटी गोलमेज़ के चारों ओर, बिजली के पंखे के नीचे, अन्दर कमरे में ब्रिजपर जमी हुई है। सत्याचरण ब्रिज का माना हुआ खिलाड़ी है और वह जीत भी रहा है। पर वह अनमना मालूम होता है।

खेल के बीच में उसने कहा—"हटाओ जी, आओ, कुछ बातें करें।"

हरिश्चन्द्र ने एक खेल के लिए और आग्रह किया। खेल से उसमें उत्साह जागता है। हार से वह उत्साह और प्रोत्साहित होता है। सत्याचरण ने हरिश्चन्द्र की ओर उदास भाव से देखा और, ख़ैर, फिर ताश बंटने लगा।

इस तरह शुरू होकर अकेले में काफ़ी देर तक ब्रिज खेला जाता रहा। सत्याचरण खिन्न था और अनायास अपनी जीत से और भी खिन्न। इस पर उसने बिना अपने पत्तों की तरफ़ देखे हुए ही ऊंचा दाँव बोल दिया। वह बेहद झल्ला आया, जब उसने देखा कि पत्ते ठीक उसी बाज़ी के लायक हैं, और वह फिर जीत गया है। अन्त में वह उसी तरह बोलता गया और फिर बुरी तरह हार गया। तब कहा—"लो, अब हटाओ, ऐसी सुहावनी संध्या हम बरबाद कर रहे हैं।"

इसके बाद मित्रों में बातचीत होने लगी। वह बात इस विषय से उस विषय पर फुदकती हुई जाने कहाँ-कहाँ फिरने लगी। रूज़वेल्ट, चर्चिल, जापान-संकट, नये फ़िल्म, युवती की हत्या, गांधीजी की हत्या—सब पर चर्चा घूम गई।

सत्याचरण ने उसमें विशेष योग नहीं दिया। इस समय क्लब के और लोग वहाँ आगए थे।

हरिश्चन्द्र ने कहा—"क्यों भाई, बाजी का इतना भी क्या ग़म ? तुम तो बोलते भी नहीं !"

सत्याचरण ने उधर ध्यान न देकर कहा—"मेरा एक प्रस्ताव है, दोस्तो ! वह यह कि सब अपनी ज़िन्दगी की ऐसी कोई घटना सुनायें जिसमें उन्हें बेवकूफ़ बनना पड़ा हो।"

लोगों ने एक आवाज़ से कहा—"मंजूर" हरिश्चन्द्र ने सुझाया—"और आरम्भ सत्याचरण ही करें।"

दूसरे साथियों ने भी सहमति दिखलाई और तब पकड़े जाकर सत्याचरण ने कहना शुरू किया—

बेवकूफ़ी, मेरा अनुभव है, कोई नीरस वस्तु नहीं है। इसीसे इसे अवगुण भी नहीं कहा जा सकता। कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब व्यक्ति मान उठता है कि वह बेवकूफ़ बन रहा है; अन्यथा वह अत्यन्त आनन्ददायक अवस्था है।

सन् '२५-२६ में मैं वियना रहा। यहाँ एम० ए० करके मनोविज्ञान और मनोविश्लेशण के विशेष अध्ययन के लिए मैं वहाँ गया था। पेरिस में हमारी दूकान भी थी। यहाँ पढ़ते हुए भी मैंने दूकान के जवाहरात का काम देखना शुरू कर दिया था। पिता मेरे योरुप जाने के पक्ष में न थे। पर मैंने कहा कि मैं व्यवसाय का काम भी साथ ही करता रहूँगा, जिसकी वियना जैसे नगर में एक विद्यार्थी को विशेष सुविधा हो सकती है। इस भांति मैंने बहुत मनोरम चित्र पिता के सम्मुख उपस्थित किया और अन्त में एक मुस्कराहट के साथ पिताजी ने भी अनुमति दे ही दी।

पेरिस में मुझे बताया गया कि वियना जवाहरात का किसी से कम अच्छा खरीदार नहीं है। यह बात मैंने सच भी पाई। व्यवसाय के

उत्साहप्रद अनुभव से आरम्भ होकर वियना का अध्ययन-काल मेरे लिए आनन्द-काल ही हो रहा और मैं वहां पूरे तीन साल रहा।

भारतीय लोग भी उन दिनों वहाँ काफी थे। पचास से ऊपर होंगे। अधिक मेरे समान विद्यार्थी थे, कुछ यात्री, शेष रोगी। वियना में आधे डाक्टर हैं, क्योंकि वहाँ दुनिया के रोगी आते हैं। स्थायी आबादी के अनुपातसे डाक्टर आधेसे भी ज्यादा हों तो अचरज नहीं। इससे दूर-दूर देश के लोग वहां आते रहते हैं। भारतीयों की वहां एक गोष्टी थी और मैं उसमें शामिल होगया। क्लब उसे बाकायदा तो नहीं कहा जा सकता। उपहार गृह में अकसर शाम को हम मिला करते थे। कुछ जर्मन,आस्ट्रीयन और फ्रांसीसी भी हमारे साथ थे, और पर्यटन के शौकीन अमरीकन भी एक-दो हमारे साथ बने रहते थे।

मेरा ध्यान शुरू में ही श्रीमती सेन की तरफ गया। लोग उन्हें मिसेज सेन या मिस शरत् कहते थे। कई वर्षों से वह वियना में ही थी और वहाँ के समाज में ही उनका जैसे घर हो, इस सहज भाव से व्यवहार करती थी। यहाँ वह एक डाक्टर के सेनेटोरियम में अपना अलग अच्छा-सा स्थान लेकर रहती थी। मिसेज और मिस दोनों वह एक साथ कैसे हैं, यह आरम्भ में मैं किसीसे न पूछ सका।

मुझे उनकी सरलता, कुशलता और तत्परता ने आकृष्ट किया। उन्हें मैंने कभी सुस्त नहीं पाया। सदा प्रसन्न और प्रफुल्लित दीखती थी। भारतीयों में वह विशेष लोकप्रिय थी। मैं देख सका कि वहाँ के स्वदेशी यानी विदेशी समाज में भी वह उसी तरह अभ्यर्थनीय, स्पृहणीय और समरस हैं।

वियना नगर से वह पूरी तरह परिचित थीं। हर अभ्यागत भारतीय को उनका सहारा था। मेरे लिए एक परिवार में उन्होंने ही स्थान का प्रबंध किया था।

उनसे मेरा परिचय, जो साधारण था, इस भाँति घनिष्टता की ओर बढ़ा। अमरीका के एक धनिक पुत्र योरुप की सैर कर रहे थे। साथ

उनके एक ब्रिटिश कुमारी थी। उपहार-गृह में श्रीमती सेन ने संकेत से मुझे बुलाया और उनसे परिचय कराया कि मैं जौहरी हूं, यह जानकर उन्होंने मुझसे कुछ सामान देखना चाहा। मेरी वहाँ दूकान तो कोई थी नहीं। फिर भी पास माल काफी था। लेकिन मैं इस बात का आभास, जहाँ रहता था उस परिवार वालों को, किसी तरह होने नहीं देता था। इससे मैं असमंजस में था कि सामान इन लोगों को किस स्थान पर दिखाया जाय। ऐसे समय में अनायास कुमारी शरत् की सहायता प्राप्त हो गई। बोली—"मैं भी जवाहरात देखना चाहती हूं। आप सब लोग मेरे यहाँ कल चाय पर कृपया पधार सकें, तो मैं बहुत आभारी हूँ। आइएगा, मि० सत्य ?"

यह प्रबंध सबको सुविधाजनक हुआ और हम लोग अगले दिन श्रीमती सेन के यहाँ जमा हुए। इस मुलाकात में मुझे मालूम हुआ कि उनका नाम शरत् पूर्णिमा है। किन्ही सेन से उनका विवाह हुआ है। पर वह पूर्णतः स्वतंत्र है, और श्रीयुत सेन के संबंध में स्पष्ट ही मैं कुछ नहीं पूछ सका। पर उसके बाद से अनुमति लेकर मैं उन्हें शरत् ही कहने लगा।

अमरीकनों ने काफी सामान पसन्द किया और नकद नोटों में मूल्य चुकाया। शरत् ने कहा कि इस तरह नजदीक से हाथ में लेकर जवाहरात देखने का उसका पहला मौका है। सचमुच ये पत्थर सुन्दर होते हैं।

शरत् ने अमरीकन से पूछा कि इन खरीदी हुई चीजों को वह क्या करेंगे ?

अमरीकन युवा ने कहा—मैं खरीदता नहीं हूँ। खर्चता हूँ। रुपया जो आता है वह खर्च न हो तो हमें खा जाय। मैं जीवनमें विश्वास रखता हूं, और हाथ से पैसा जाकर जीवन में लहरों की सृष्टि करता है। रुककर वह जीवन को रोकता है। सतत तरंगमय है, वही मेरी दृष्टि में जीवन है।... "क्या मैं देख सकता हूँ, कुमारी उज्ज्वल, (अमरीकन ने मिस

ह्वाइट कहा था) कि सोने के सूत में टँका ये नीलम आपकी ग्रीवा की प्रदक्षिणापूर्वक वक्ष पर कैसा शोभायमान होता है ?"

कहते-कहते उस अमरीकन युवक ने वह नीलम का कंठा शरत् के गले में डाल दिया। शरत् की देह का वर्ण कच्चे दूध की नाईं सफेद था। विदेश में वह वर्ण और भी सुन्दर प्रतीत होता था। योरुप में साफ सफेदी कम मिलती है। उस पर कुछ भूरापन रहता है, किंचित नीलिमा के आभास के लिए वहाँ अवकाश नहीं होता। शरत् की हिम-धवल खुली गरदन पर से लटकता हुआ वह पारदर्शी द्युति से झलकता नीलम बहुत ही सुन्दर मालूम होता था। अमरीकन की साथिन रूथ उस पर मुग्ध ही जान पड़ी। इस मुग्धता पर प्रसन्न होकर अमरीकन ने बक्स में से निकालकर उसी समय दूसरा कंठा रूथ को पहिना दिया। गरदन के पीछे के किनारे से क्रमशः बढ़ते हुए आकार के मोती उसमें पिरोये हुए थे, और बीच में हरे पन्ने के दोनों ओर लाल माणिक जड़े थे। पन्ने के ऊपर शिवशीर्ष पर से उच्छलित गंगा-फेन का भ्रम देता हुआ एक निर्दोष हीरा टँका हुआ था।

शरत् ने बढ़कर रूथ का चुम्बन लेकर इस कंठहार वलयित इंग-लिश सौंदर्य का अभिनन्दन किया, जिस पर रूथ लजा आई। अनन्तर शरत् अपना हार उतारकर अमरीकन को वापस करने लगी। अमरीकन युवा ने उसे लेने से इनकार किया। शरत् ने कहा—"मैं इसे कैसे ले सकती हूँ ? हम अभी मित्र भी तो नहीं हैं।"

अमरीकन ने कहा—"इससे सुन्दर वक्ष नीलम के भाग्य में कहाँ होगा ? मैं उसे यथास्थान पहुँचाने में निमित्त हूँ; तो क्या इतना गौरव भी मुझसे छीनियेगा ? आपका कंठ ही उसकी अपनी जगह है।"

इसी प्रकार के वाक्यों से अमरीकन ने शरत् को लाचार कर दिया और वह हार फिर उसके गले में पड़ गया।

अब इस बात पर मुझे बड़ी लज्जा थी। मैं रह-रहकर सोचता था कि यह मुझे ही क्यों नहीं सूझा कि यह कंठहार शरत् को दे दूँ।

किन्तु यह सोचकर भी, तब या उसके बाद दूसरी कोई चीज मैं शरत् को दे सका, यह भी नहीं। तभी सोचता हूँ कि मनुष्य की आकांक्षा और साथ ही उसकी क्षुद्रता का अंत नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हममें घनिष्टता हो चली थी। मैं अवसर शरत् के यहाँ जाता था और वह भी कभी-कभी हमारे परिवार में आ जाती थी। हम लोग साथ घूमते, सिनेमा जाते, काफे में बैठते। मुझे खर्च की तंगी न थी। और शरत् की वदान्यता भी कम न थी।

हम लोग तरह-तरह की बातें करते। उसने मेरे सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। मैंने बतलाया कि मेरा विवाह हुआ तो था, पर द्विरागमन से पहले ही पत्नी का अकस्मात देहान्त हो गया। बात झूठी थी। घर पर पत्नी और तीन वर्ष की बालिका छोड़कर मैं योरुप गया था। शरत् के सम्बन्ध में मुझे कोई विशेष तथ्य ज्ञात हुआ, इसका मुझे भरोसा न होता था। वह अपने संबन्ध की चर्चा को टालती तो न थी; पर उत्तर कुछ ऐसा विचित्र और इस प्रकार मुस्कराकर देती थी कि मैं नहीं जानता था कि क्या मैं विश्वास करूँ और क्या नहीं। उसने बताया कि मैं रोगिणी हूँ। मानसोपचार के लिए पति ने यहाँ रहने की आज्ञा दी है। डाक्टर जिस दिन कह देंगे या 'वह' बुलायँगे, देश चली जाऊँगी, पर चिह्न उलटे दिखाई देते थे। चेहरे पर कहीं रोग के लक्षण न थे। यद्यपि देह से दोहरी न थी, पर उनकी-सी तत्पर अप्रमादी और निःशङ्क महिला मैंने कम ही देखी होंगी। पति का आसपास कोई चिह्न न था। न उसके व्यवहार में किन्हीं पति के अस्तित्व का समर्थन था। पूछा तो कहा, "पति वृद्ध हैं और असमर्थ हैं।"

"खर्च वही भेजते हैं?"

"हाँ; वही भेजते हैं।"

"तो तुम निर्द्वन्द्व हो?"

"हाँ एकदम निर्द्वन्द्व।"

"पति के पास जाने की चिन्ता तो नहीं है?"

"चिन्ता मुझे डाक्टर और पति दोनों की ओर से निषिद्ध है।"

"पति तुम्हें याद करते हैं ?"

"करते हैं, पर मुझे करने को मना करते हैं।"

इस तरह के प्रश्नोत्तर मैं अनेक दे सकता हूँ। पर उत्तर के साथ वह इस प्रकार मेरी ओर मुस्कराती थी कि उत्तर पाकर भी मेरा प्रश्न मुझ में अनुत्तरित रहता था।

खैर हम लोगों ने एक बार वहाँ एक भारतीय समारोह का आयोजन किया। उसमें उर्वशी नाटक खेला गया। यह सूझ शरत् की थी, और वही उर्वशी बनी थीं। नाटक में उस अप्सरा के नृत्य पर सब मोहित हो गए। एक रात के प्रोग्राम को हमें कई रात चलाना पड़ा। वियना जैसे नगर में एक बार उसकी धूम हो गई थी और खासी आमदनी हुई थी। आय का धन तभी एक समिति बनाकर उसके अधीन बैंक में जमा कर दिया गया। शरत् भी समिति की सदस्या थीं। संभव है, उस उर्वशी-नृत्य और नाटक की प्रशंसा तब के योरुप के पत्रों में आप में से किसी ने देखी भी हो।

समारोह के बाद मैंने जो अपनी चीजें सम्हालीं तो उसमें एक रत्न-मेखला नहीं पाई गई। उर्वशी के कटि-श्रृंगार के वह काम आई थी। उर्वशी-नृत्य को देखते समय मेरी निगाह अपनी मेखला पर ही जाकर पड़ती थी। मेखला बेश-कीमती तो थी ही, पर उस कटि-प्रदेश पर उसकी शोभा निराली जान पड़ती थी। उर्वशी की अंतिम लास्य-लीलापर वह मेखला कटि से खिसककर भूमि पर आ पड़ी, ऐसा अनुमान है। फिर उसका पता नहीं चला।

यह हानि छोटी नहीं थी। मैं अन्त में तो वैश्य था। कमाने आकर इस तरह खोने का वश मेरा न था। पर अब क्या किया जा सकता था?

समारोह के बाद कुछ दिन तक शरत् बाहर कम दिखाई दी। उसके नाम की ख्याति थी और वह विशेष खुलकर न दीख सकती थी। निश्चय था कि आम जगह कहीं उसका पता चल जाय, तो सैकड़ों उँग-

स्त्रियाँ और उससे कई गुनी आँखें उसकी ओर उठी रह जायँ। अन्त में मैंने एक बार उसके घर जाकर उसके नृत्य की बहुत प्रशंसा की और कहा कि उसने विदेश में हम भारतीयों का गौरव बढ़ाया है।

वह मेरी ओर देखती रही, बोली—"आपकी मेखला नहीं मिली?"

मैंने कहा—"छोड़ो, उस तुच्छ बात को क्या याद करती हो।"

बोली—"आपने पुलिस को खबर नहीं दी?"

मैंने कहा—"हटाओ, उस बात को।"

शरत् ने कहा—"पुलिस अभी तक मेरे पास तो तलाशी के लिए नहीं आई! आप कैसे व्यापारी हैं?"

सुनकर मैं शरत् को देखता रह गया। कहा—"कैसी बात कहती हो?"

बोली—"नाटक में उर्वशी ही न उसे पहिन रही थी? पुलिस में कुछ बुद्धि है तो उसे मेरी तलाशी पहले लेनी चाहिए।"

कहकर वह मेरी आँखों में देखने लगी।

आभरण उस पर नहीं थे। वेष-भूषा संभ्रान्त भारतीय कुलोचित थी। पर मैं खुली आँखों से देख रहा था कि वह कोई शरत् नहीं, वास्तव में उर्वशी ही है। नृत्य-मंच पर आभरणालंकृता उर्वशी कृत्रिम भी हो, किंतु यह अद्भुत अलक्ष भाव से मेरे मोह को निमंत्रण देती हुई रूपसी शत-प्रतिशत अप्सरा उर्वशी ही थी। मैंने कहा—"शरत्, तुम उर्वशी हो। मेखला तो उर्वशी की कटि की ही थी।"

स्मित मुस्कान से बोली—"मेरी कटि पर वह बहुत सुन्दर लगती थी?"

मैंने कहा—"हाँ, बहुत ही सुन्दर लगती थी।"

सुनकर वह ज़ोर से हँसने लगी। बोली—"कटि के कारण वह सुन्दर लगती थी, या उसके कारण कटि सुन्दर लगती थी?"

सुनकर मैं क्षणभर स्तब्ध रह गया और वह ज़ोर-ज़ोर से हँसती रही। फिर बोली—"आप पुरुषों में जौहरी हैं और पारखी हैं।"

कहकर फिर उसी तरह ज़ोर से हँसने लगी।

उस समय मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था और मैं शरत् को देखते रहने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सका।

इतने में मेरे रहते पुलिस के दारोगा भी वहाँ आ गए। उन्होंने मुझे नमस्कार किया और शरत् से पूछताछ की। फिर पहले मुझसे और शिष्टता के नाते शरत् से भी अनुमति लेकर उसके स्थान की तलाशी ली। कहीं कुछ नहीं मिला और दारोगा अत्यन्त शिष्टता और मिष्टता के साथ क्षमायाचनापूर्वक वहाँ से विदा हुए।

उसके बाद शरत् मुझसे बोली—"पुलिस न पता लगा सकी, तो आप क्या कीजियेगा ?"

मैंने कहा—"गई है,तो जाने भी दो। अब उसका सोच-विचार क्या ?"

बोली—"आपने पिता को ख़बर दी थी, उन्होंने क्या लिखा ?"

मैंने कहा—"उनका तार आया है कि मैं दूकान पर पेरिस लौट जाऊँ और चार्ज सम्हालकर एक महीने में भारत आ जाऊँ।"

शरत् ने पूछा—"और पत्नी ने ?"

मैं इसके लिए तैयार न था। मैंने कहना चाहा "शरत्—"

लेकिन बीच ही में वह बोली—"जिसके प्रेम में हिसाब है, उसे पत्नी ज़रूरी है। खिन्न न होइये कि आपने झूठ में पत्नी को स्वर्गीय कहा था।"

सुनकर सन्न रह गया। वह कहकर उसी तरह ठहाके से हँसने लगी। बोली—"पत्नी ने कुछ तो लिखा होगा ?"

मैंने कहा—"शरत्, तुम क्या कहना चाहती हो कि मैं यहाँ फिर न आऊँ ?"

शरत् गम्भीर हो आई। बोली—"नहीं सत्य, मुझे तुमसे सहानुभूति है। मेखला बहुत कीमत की होगी। मेरे पास यह चीज़ मुफ़्त की है। इससे कुछ तो तुम्हारा घाटा पूरा होगा।"

यह कहकर गले से कंठहार उतारकर उसने मेरे सामने रख दिया।

स्त्रियाँ और उससे कई गुनी आँखें उसकी ओर उठी रह जायँ। अन्त में मैंने एक बार उसके घर जाकर उसके नृत्य की बहुत प्रशंसा की और कहा कि उसने विदेश में हम भारतीयों का गौरव बढ़ाया है।

वह मेरी ओर देखती रही, बोली—"आपकी मेखला नहीं मिली?"

मैंने कहा—"छोड़ो, उस तुच्छ बात को क्या याद करती हो।"

बोली—"आपने पुलिस को खबर नहीं दी?"

मैंने कहा—"हटाओ, उस बात को।"

शरत् ने कहा—"पुलिस अभी तक मेरे पास तो तलाशी के लिए नहीं आई! आप कैसे व्यापारी हैं?"

सुनकर मैं शरत् को देखता रह गया। कहा—"कैसी बात कहती हो?"

बोली—"नाटक में उर्वशी ही न उसे पहिन रही थी? पुलिस में कुछ बुद्धि है तो उसे मेरी तलाशी पहले लेनी चाहिए।"

कहकर वह मेरी आँखों में देखने लगी।

आभरण उस पर नहीं थे। वेष-भूषा संभ्रान्त भारतीय कुलोचित थी। पर मैं खुली आँखों से देख रहा था कि वह कोई शरत् नहीं, वास्तव में उर्वशी ही है। नृत्य-मंच पर आभरणालंकृता उर्वशी कृत्रिम भी हो, किंतु यह अद्भुत अलक्ष भाव से मेरे मोह को निमंत्रण देती हुई रूपसी शत-प्रतिशत अप्सरा उर्वशी ही थी। मैंने कहा—"शरत्, तुम उर्वशी हो। मेखला तो उर्वशी की कटि की ही थी।"

स्मित मुस्कान से बोली—"मेरी कटि पर वह बहुत सुन्दर लगती थी?"

मैंने कहा—"हाँ, बहुत ही सुन्दर लगती थी।"

सुनकर वह ज़ोर से हँसने लगी। बोली—"कटि के कारण वह सुन्दर लगती थी, या उसके कारण कटि सुन्दर लगती थी?"

सुनकर मैं क्षणभर स्तब्ध रह गया और वह ज़ोर-ज़ोर से हँसती रही। फिर बोली—"आप पुरुषों में जौहरी हैं और पारखी हैं।"

कहकर फिर उसी तरह ज़ोर से हँसने लगी।

उस समय मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था और मैं शरत् को देखते रहने के सिवा और कुछ भी नहीं कर सका।

इतने में मेरे रहते पुलिस के दारोगा भी वहाँ आ गए। उन्होंने मुझे नमस्कार किया और शरत् से पूछताछ की। फिर पहले मुझसे और शिष्टता के नाते शरत् से भी अनुमति लेकर उसके स्थान की तलाशी ली। कहीं कुछ नहीं मिला और दारोगा अत्यन्त शिष्टता और मिष्टता के साथ क्षमायाचनापूर्वक वहाँ से विदा हुए।

उसके बाद शरत् मुझसे बोली—"पुलिस न पता लगा सकी, तो आप क्या कीजियेगा?"

मैंने कहा—"गई है,तो जाने भी दो। अब उसका सोच-विचार क्या?"

बोली—"आपने पिता को ख़बर दी थी, उन्होंने क्या लिखा?"

मैंने कहा—"उनका तार आया है कि मैं दूकान पर पेरिस लौट जाऊँ और चार्ज सम्हालकर एक महीने में भारत आ जाऊँ।"

शरत् ने पूछा—"और पत्नी ने?"

मैं इसके लिए तैयार न था। मैंने कहना चाहा "शरत्—"

लेकिन बीच ही में वह बोली—"जिसके प्रेम में हिसाब है, उसे पत्नी ज़रूरी है। खिन्न न होइये कि आपने झूठ में पत्नी को स्वर्गीय कहा था।"

सुनकर सन्न रह गया। वह कहकर उसी तरह ठहाके से हँसने लगी। बोली—"पत्नी ने कुछ तो लिखा होगा?"

मैंने कहा—"शरत्, तुम क्या कहना चाहती हो कि मैं यहाँ फिर न आऊँ?"

शरत् गम्भीर हो आई। बोली—"नहीं सत्य, मुझे तुमसे सहानुभूति है। मेखला बहुत कीमत की होगी। मेरे पास यह चीज़ मुफ़्त की है। इससे कुछ तो तुम्हारा घाटा पूरा होगा।"

यह कहकर गले से कंठहार उतारकर उसने मेरे सामने रख दिया।

फिर बोली—"मुझे अफ़सोस है कि मेरे पास और कोई आभूषण नहीं है, घाटा भरने को मैं स्वयं ही रह जाती हूँ।"

मैं हतबुद्धि होकर उसकी ओर देखता रह गया, कहा—"क्या है शरत् ?"

शरत् कुछ देर चुप रही, फिर बोली—"मुझे लेकर घाटा तुम्हारा नहीं भर जायगा ?"

मैं उस समय अवसन्न भाव से शरत् को देखता रह गया।

जाने किस भाव से वह बोली—"मुझको एक बार फिर उर्वशी कहना चाहते हो ? कहो, तुम, उर्वशी को चाहते हो ? चाहो तो यह हो सकता है। लेकिन उसके लिए जो आभूषण तुमने दिये थे, वह सब फिर यहाँ दे जाना होगा। बोलो, क्या कहते हो ?"

मैं आप लोगों से इस समय मन की बात कह रहा हूँ। सुन्दरता की कोई परिभाषा नहीं है। सुन्दरता स्थिर नहीं है। इसीसे नहीं है कि वह जड़ नहीं है, अर्थात् वह प्रतिक्षण तरंगमान है। स्वयं अपने वेग से उसमें लहरें उठतीं और आपस में निरन्तर टकराती चाँदनी बिखेरती रहती हैं। इसमें नियम नहीं है, अनियम ही उसका नियम है। मानो भीतर से कुछ उठकर देह के तट से पछाड़ें खा-खाकर टकराता और देह में एक सिहरन की तरङ्ग फैला जाता है। इस तरह सुन्दरता का देह पर जितना आभास है, उससे कहीं अधिक हृदय में उसका निवास है। शरत् को उर्वशी रूपमें देखा, तब यह बात सहसा ही मेरे निकट आविष्कृत हो आई थी। कभी एक भाव तो उस चेहरे पर मैंने पाया ही नहीं। ताल और लयमें परस्पर एक गति,पर्त-पर-पर्त देती हुई, उस समस्त रात्रि पर मानो प्रत्यक्ष थिरकती दीखती थी। उस लहर-लहर सलिल की-सी तरङ्गमानता को मैं आँखें खोले देखता रह गया था। सोचता था कि आँखों ने जो तब देखा, क्या वह फिर भी कभी देखना भाग्य में हो सकेगा ? लेकिन शरत् के उस प्रस्ताव पर मैं आश्चर्य से कह उठा—"शरत् क्या कह रही हो ?"

शरत् हँसकर बोली—"उर्वशी रत्नाभरणों से कम ही है, सत्याचरण तुम समझदार हो।"

मैंने कहा—"रत्नाभरण यहीं दे जाऊँ ? या वहाँ मेरे यहाँ आकर भी पहिन सकती हो।"

शरत् खिलखिलाकर हँस आई। बोली—"सत्याचरण तुम समझदार हो, बहुत समझदार हो।"

मैंने कहा—"अच्छा, यहीं दे जाऊँगा।"

बोली—"ना, ना, ऐसा कभी न करना। मेखला खोकर क्या तुम्हारा जी नहीं भरा है ? जाओ, पिता के पास लौट जाओ, यहाँ क्या पड़े हो ?"

मैंने कहा—"मैं सब चीजें अभी लाये देता हूँ।"

बोली—"पागल तो नहीं हुए हो ! समझदार होकर मूर्ख न बनो। धरती पर कहीं उर्वशी है ? है, तो छल है।"

मैंने तब आविष्ट होकर कहा—"एक क्षण का छल ही सही, शरत्। अभी ला रहा हूँ।"

वह मानो व्यंग से बोली—"यथार्थ को भ्रम पर मत गँवाओ, सत्याचरण। उर्वशी मरीचिका है।"

मैं शरत् को एकटक देख रहा था। वह परम दुर्लभ तक सुलभ लग आई थी। मैंने कहा—"तुम जो कहो लाये देता हूँ। अब कभी भी हिन्दुस्तान लौटकर मुझे क्या करना है !"

सुनकर शरत् मुस्कराई।

मैंने कहा—"उर्वशी के लिए क्या व्यवस्था करनी होगी ? क्या साज संगीत का भी प्रबन्ध चाहिएगा ?"

शरत् बोली—"एक मेखला को खोकर सम्हल जाओ, सत्याचरण ! कुछ व्यवस्था नहीं। दूकान होते हुए जाओ, अपने घर लौट जाओ।"

मैं उसकी इस तरह की बातों से आवेश में आता जा रहा था।

मैंने मेज़ पर पड़े उसके हाथ को अपने हाथ से ढँक लिया। कहा—"मैं घर नहीं जाऊँगा।"

शरत् ने मेरे हाथ में से अपना हाथ नहीं खींचा। वह हाथ शीतल था। उसमें एक अँगूठी भी नहीं थी। वह हाथ, निश्चेष्ट और अनुवर्त्ती, मेरे हाथ के नीचे दबा रहा। वह वहीं बैठी हुई मेरी आँखों में देखने लगी। हाथ हटाकर मैंने फिर अपने ओंठ उसके हाथ पर रख दिए। वह उसी तरह निश्चेष्ट बैठी रही। मेरा ज्वर चढ़ता जा रहा था। मैंने कहा—"शरत् !"

वह मानो विस्मृत, विस्मित आँखों से सामने देखती हुई चुपचाप बैठी रही।

मैंने अपने दोनों हाथों में उसके उस हाथ को अधिकार में करके ज़ोर से दबाया और छोड़ दिया। ऐसा लगा कि वह रोने को होकर एक साथ मुस्करा आई है। फिर वह ज़ोर से हँस पड़ी। बोली—"अब आप घर नहीं जायंगे, पर मुझे डाक्टर की हाज़िरी देनी है।"

कहकर अपने हाथ से मेरा हाथ दबाया और वह उठ खड़ी हुई। मैंने कहा—"वहाँ आओगी ?"

वह मुस्कराती हुई दूसरे कमरे में चली गई। उस समय अपने लिए कुछ शेष न पाकर मैं चलकर अपने स्थान पर आ गया।

शाम को अपनी जगह से मैंने फ़ोन किया। पर शरत् फ़ोन पर न आ सकी। अनन्तर मैंने चिट्ठी भिजवाई कि मौसम सुहावना है, आओ तो गपशप हो, या सैर को चल सकते हैं। मैंने इधर सोचा था कि जब तक ज़रूरी न हो, आभूषण वहाँ शरत् के यहाँ पहुँचाने से क्या फ़ायदा? यों चीज़ें खोने को मैं तैयार हो गया था। लेकिन हवा में तो उन्हें नहीं गँवा सकता था। शरत् की ओर से कोई उत्तर नहीं आया। तीन-चार रोज़ तक वह नहीं आई। मैं अधिकतर अपने कमरे में ही रहता था। चार-पाँच रोज़ बिताकर मैंने सोचा कि मैं बेवक़ूफ़ तो नहीं बन रहा हूँ! गुस्से में आभूषणों के सब डिब्बे लेकर मैं उसके स्थान पर पहुँचा। पर

यह वहाँ नहीं थी। मैं डिब्बों को वहीं एक पत्र के साथ छोड़ आया। लेकिन वे सब अगले रोज़ मेरे यहाँ वापस आ गए। साथ ही एक चिट पर सिर्फ 'विद थैंक्स' लिखा हुआ था। मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ और टेलीफ़ोन पर मैंने बात करने की कोशिश की। पर एक भी बार शरत् फ़ोन पर नहीं आई।

मुझको इतना बुरा मालूम होता था कि मैं कमरे से बाहर नहीं निकलता था। सोच लिया था कि वियना छोड़कर जल्दी पेरिस चला जाऊँगा। बस, यही था कि एक बार वह मिल जाय, तो मन को कह-सुन लूँ, कि वह भी याद करे कि कोई मिला था। इतने में एक रोज़ बड़े-से लिफ़ाफ़े में डाक से मुझे निमंत्रण का कार्ड आया कि उर्वशी का खेल फिर किया जायगा, मैं कृपया पधारूँ।

इस बात से मैं बेहद चिढ़ गया। मुझसे किसी प्रकार की सहायता नहीं ली गई थी। यहाँ तक कि मुझे सूचना तक नहीं थी। मैंने सोचा कि नाटक देखने नहीं जाऊंगा। तय किया कि तिथि से पहले ही पेरिस चल दूँगा। लेकिन वह कुछ भी न हुआ। दिन आया और मैंने अपने को नाटक में पाया। परदा उठते ही देखता हूँ कि उर्वशी खड़ी है और कटि पर वही रत्नमेखला खेल रही है। मैं मन-ही-मन जानता था कि हो-न-हो, रत्नमेखला खोने में शरत् का हाथ अवश्य है। मुझे इस पर विस्मय न था। ऐसी कथाएँ सुनी थीं, एकाध अनुभव भी जीवन में पा लिया था। लेकिन यह यहाँ तक ढिठाई करेगी, ऐसी कल्पना मुझे नहीं थी। जो हो, उर्वशी पर से मैं टकटकी न हटा सका। उसकी अंग-भंगिमा पर मुझे अति विस्मय हुआ। मानो इस देह में अस्थि कहीं हो ही नहीं। एक साथ शरीर में कई तोड़ देकर जब वह थिरकती थी, तो मैं मान न पाता था कि उसका गात्र स्वप्न और स्वर्ग का बना नहीं है। मेरी इसी विमुग्ध अवस्था में कोई एक डिब्बा मेरी गोद में रख गया। परदा गिरा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि डिब्बे में मेरी वह रत्नमेखला रखी हुई है। साथ चिट पर उन्हीं अक्षरों में लिखा है, 'विद थैंक्स'। गुस्से

में झलकाकर मैंने बक्स को बंद कर दिया। अनन्तर फिर परदा उठा और मैंने देखा कि वही उर्वशी उसी रूप में उपस्थित है और रत्नमेखला उसी भाँति कटि पर शोभित है। मैं अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। पर किसी तरह के विश्वास या अविश्वास का अवसर न था। नृत्यमें नाना भङ्गिमाओं में लीलायमान उर्वशीकी झिलमिल देह पर से मैं आँख नहीं उठा पाता था। नाटक के बीच-बीच में दूसरे प्रकार के दृश्यों का भी समावेश था। ऐसे ही समय मुझे एक चिट लाकर दी गई जिस पर लिखा था—'उर्वशी'।

उर्वशी ने मुझे बुलाया था। मैं चिट लानेवाले के साथ जाकर पाता हूँ कि 'ग्रीन रूम' में वह मेरी प्रतीक्षा में है। वह अकेली है और उसने साज नहीं बदला है। स्वर्ग की अप्सराओं का परिधान कैसा है, इस दिशा में मनुष्य की कल्पना ने सदा बताया है कि वह और जैसा भी हो, अत्यन्त स्वल्प और पारदर्शी अवश्य होता है। उर्वशी को उस रूप में अपने उतने निकट खड़ा देखकर मैं अपने को भूलकर गड़ा-सा रह गया। मुझे पसीना आने लगा।

उर्वशी ने कहा—"आइये, यही न आपकी मेखला है? लीजियेगा?"

कहकर उसने करधनी को कटि पर से खोलना आरम्भ किया।

खोलते-खोलते हँसकर कहा—"कटि से अलग होने पर ही न लीजियेगा?"

मुझे उस समय कुछ भी कहते न बन पड़ा।

उर्वशी ने अपने दोनों हाथों से पकड़कर मुझे कुरसी पर बिठा लिया। उस समय मैं अवश ही हो रहा। मैंने अनुभव किया कि उसकी श्वास मेरी सांस के साथ एक होकर ऊपर जा रही है। वह बोली—"उर्वशी आपकी बहुत कृतज्ञ है। आपने उसकी कटि को रत्नमेखला का शोभा दान दिया।"

मैं अपनी आंखें उर्वशी पर से हटा नहीं सकता था। उसने कटि

मेरी ओर करके कहा—"कहीं इसका टांका उलझ गया है, खुलता नहीं है। आप कृपया खोल सकते हैं?"

मेरी उस समय क्या हालत थी, मैं कह नहीं सकता। उर्वशी मानो सहसा मर्मान्तक पीड़ा से उद्धार पाती हुई बोली—"या आप इसे इसी कटि पर रहने दे सकते हैं ?" मैं चुप ही रहा।

अनन्तर आप ही चमककर वह बोली—"ओह, आपके हाथ में यह क्या है ? अपनी उर्वशी के लिए लाये हैं ?"

कहकर उसने अपने दोनों हाथ मेरी ओर बढ़ा दिए और नतजानु होकर मेरे सामने बैठ गई।

नाना सुगंधित पुष्प-हारों और अलंकारों से युक्त स्कंधमूल तक खुली उस बाहुयुग्म को अपनी ओर बढ़े देखकर मैंने अपने हाथ के आभूषण का डिब्बा अनायास उसके हाथों में रख दिया। मुस्कराकर उसने कहा—"उर्वशी आपकी कृतज्ञ है। यह उसीका है न ?"

मेरे कण्ठ से उस समय क्या निकला, यह मुझे ज्ञात नहीं; पर 'नहीं' तो निकल सकता ही नहीं था! उसने झुककर डिब्बे को, मेरे पैरों से छुआया फिर अपने माथे से लगाकर मुस्कराती और नृत्य करती हुई उर्वशी मुझे अकेला छोड़ वहां से अंतधान हो गई।

बन्धुओ, आगे कहनेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। टिकटों की आय के साथ वह रत्नमेखला भी समिति के कोष में जमा की गई और मैं पेरिस आने की तैयारी करने लगा। चलते समय शरत् ने मेरे हाथों को चूमकर कहा—"सत्याचरण, तुम बड़े अच्छे हो।"

अब मित्रो, स्पष्ट है कि मैं मूर्ख बना। पर चलते समय कुछ नहीं जान सका। मैं रोष तक अपने साथ नहीं रख सका। मानो शरत् वह न थी, जो थी। कई बार विस्मय से मैं सोचता रह गया हूँ कि क्या यह भी सम्भव है कि जिसके हाथों व्यक्ति मूर्ख बने, उस पर भीतर से तिरस्कार और रोष भी न कर सके ? पर शायद कुछ प्राणी ही ऐसे महामूर्ख होते हों कि खुलने के लिए उनके पास कोई समझ नहीं होती। पर मुझे

शरत् ने समझदार कहा था। सोच उठता हूँ कि क्या वह समझदारी ही न मेरी वास्तविक मूर्खता थी? जो हो, मैं उर्वशी को भूल नहीं सका।

इस बात को बारह वर्ष हो गए हैं। आज का यह अखबार आपके सामने है। सर दीनेश्वरसेन के देहान्त की खबर आप दो सप्ताह पहले पढ़ चुके हैं। आज वियना की खबर है कि पति के बाद जीने की इच्छा के अभाव में शरत्-पूर्णिमा ने अपनी जान लेकर फलभोग के लिए भगवान् के समक्ष कर दी है!

मित्रो, क्या आप मेरी इस कामना की रक्षा करेंगे कि हम सब उस स्वर्गीया की आत्माकी अखण्ड शान्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करें?

पांच

प्रतिभा

झटके के साथ रोल्स रायस को रोका, कलाई पर बंधी घड़ी देखी। पीछे बैठे शोफर ने तपाक से आकर दरवाजा खोल दिया, और प्रतिभा उतरकर खट-खट सीढ़ी चढ़ मकान में दाखिल होने को हुई। शोफर से कहा-'हाँ ले जाओ। सवेरे आठ बजे ठीक।' 'संभ्रमपूर्वक इकट्ठे होगए दरबान और बैरा को हँसकर कहा, 'सलाम-सलाम। यह जागने का वक्त है! खुदा के वास्ते आराम कीजिए। मेरा इन्तजार न देखा कीजिए। आप से कितना कह चुकी हूँ!' कमरे में आई। आईने में अपने को देखा। डेढ़ बज गया था। मेज पर खतों का ढेर था। उसने गुस्से से उस तरफ निगाह डालकर वापिस की और बालों पर हाथ फेरती कौच पर आ बैठी।

वह अभी कहां से आ रही थी? जो हो अपने से खुश मालूम होती थी। आई तो, तेज कदमों से चलती आई थी। खट् खट्-खट् खट्। मन भी मानो चाल की इस खट्-खट् पर ताल देता आ रहा था।

प्रतिभा जहां पहुंचती वहीं ध्यान और आकर्षण का केन्द्र बन रहती थी। वह इसकी आदी होती जाती थी। लोगों की प्रशंसा और स्त्रियों की ईर्ष्या उसे अनायास मिलती थी। मन पर मानो अब उनसे कोई लहर भी न बनती हो। सोसायटी के बीच वह ऐसे तिरती थी जैसे जल पर नावें। मानो आश्वस्त और मानो मलका हो, और वह यह जानती हो।

ऐसे समय वह अतीव निर्मल होती थी। अपने मन औरत पन की उसे तब सुध न रहती थी। जैसे बन-विहंगिनी हो सबके लिए

मुस्कराहट, सबके लिए अभ्यर्थना। मानो उसमें कुछ कठिन न हो, कोई निषेध न हो ! मानो वह हवा की है और आकाश की है और वैसे ही सबकी है।

लोगों की आंखें जाने उससे क्या चाहती थीं ! उसे कुछ समझ में न आता था। न वह हां जानती थी न 'ना' जानती थी। मानो वह स्वयं आनंद के लिए है और उससे जो चाहे वह पा ले। दुनिया में नकार क्यों है ? और वह क्यों हो ? जो है वह सानंद क्यों न हो ?

किसीसे उसकी अनबन न थी। किसी के प्रति वह दुर्लभ न थी। दिन बिताने के बाद रात में कब आकर वह सो जाती मानो पता न चलता था। और सवेरे उठने से लगाकर फिर उसकी मुस्कराहट का दान आरम्भ हो जाता था। क्योंकि उसके अर्थिजन कम न थे। दिनभर फूल की नाईं इस क्यारी और उस अटारी में वह खिलती फिरती और औरों के मन को प्रफुल्लित करती थी। इस प्रसन्नता के दान के काम में सवेरा कब शाम हो जाता मानो इसका पता न रह पाता था। रात आने पर भी जल्दी उसको छुट्टी न मिलती थी। न वह छुट्टी चाहती ही थी। आज यह पार्टी तो कल वह जश्न। आधी रात बीते कहीं लौटना मिलता, तब वह आती और थोड़ी देर सिर को हाथों में थामे बैठी रहती और फिर तकिये पर गिर कर सो जाती।

सो तो जाती पर सपने क्या लेती, पता नहीं।

आईने में देखकर बालों को उंगली से पीछे करते हुए वह कौच पर आ बैठी। अनमने भाव से मेज़ के खतों के ढेर को देखकर निगाह लौटा ली, पर फिर सहसा उठकर गई और एक-एक खत को उठाकर उसका पता देखने लगी। देखती जाती और फेंकती जाती। एक भी खत उसने नहीं खोला। और सब अलग फेंक दिए।

मानो वह नाराज हो। खत से, अपने से, दुनिया से, सबसे नाराज हो। वापिस मुड़, जूते खोल, पैर ऊपर लेकर फिर कौच पर आ बैठी।

शाल खींचकर टांगों पर ले लिया, पर लेटी नहीं, और बैठी सामने कोने में जाने क्या देखती रही।

दो का समय होगा। जाग कहीं न थी। बाहर सब सोया था। स्तब्ध सन्नाटा था। ऊपर खिड़की की राह, रात के तारों से भरा आसमान का टुकड़ा दीख सकता था। बस उसके पास कमरे में बिजली की रोशनी अपना सफेद मुँह खोले जाग रही थी। वह रोशनी उसे बुरी मालूम हुई। मानो वह व्यंग हो, नग्नता हो, उघड़ाहट हो। अंधेरे आसमान के तले यह बिजली बेलाज होकर क्यों चमकती है? उसने उठकर स्विच बन्द कर दिया। घुप अंधेरा हो गया।

अब ठीक है। बिस्तर पर आकर वह बैठ गई। कुछ नहीं दीखता था। और वह कुछ नहीं देखना चाहती थी। अंधेरे में उसको सांत्वना थी। उजाले में तरह-तरह के कपड़े चाहिए, बनावट चाहिए। उजले में सच कैसे जिये? सच वहाँ सांस ले नहीं सकता। उजले में जाने को उसे आवरण चाहिए। अब अंधेरा है, यह ठीक है। अब सच सच हो सकता है, और मैं मैं।

एक-एक कर उसने अपने बदन के कपड़े उतारे, और दूर अलग फर्श पर फेंक दिए। अब वह स्वयं होकर मानो ईश्वर के अंधेरे का अंग बन गई। इस भांति वह अपने बिस्तर पर बैठी रही—बैठी रही।

ओह, वह क्या चाहती है? जाने वह क्या चाहती है! क्या अपने तन को नोंच फेंकना चाहती है! या गुलाब की पंखड़ियों के बीच उसी तन को लेकर सो रहना चाहती है! क्या उसका मन अशांत है! या वह एकदम शांत है। दिनभर की लहरें इस समय कहाँ हैं! आदमियों की आंखें और उन आंखों की वासनाएं कहां हैं? वह चेहरे कहाँ हैं जो घिनौने हैं फिर भी हँसते हैं और जिनके सामने होकर हँसना ही होता है! वह नहीं हैं सो अंधेरा ही सच है। उसमें ही उसे ढारस है।

दिन के काम मानो खिलवाड़ थे। यह रात की गोद है। दिन मुँद सोया है। अब आसमान में तारे जागे हैं। तारे यानी देवता। माया पर

अंधेरा छा गया है और बालक अभी प्रकृत मां की गोद को देख सकते हैं।

प्रतिभा को मानो मन के अंदर से कोई काट रहा है। कहाँ है तू! कहाँ है तेरा और कोई? कहां है दिन का सपना वह उजियाला! अरी, अब तो तू है और मैं हूं। दुनिया तेरे और मेरे बीच एक होने को कहां है? फिर मुझसे ओट करने क्यों तू उस दुनिया को बीच में लेती है? पगली! मुझसे ओट?

और प्रतिभा बिस्तर पर चारों ओर से कसकर भरे हुए अंधियारे का अंग बनी निरावरण गुमसुम बैठी है कि जाने क्या सुन रही है, क्या चाह रही है। बैठे-बैठे उसने दोनों टाँगों को समेटकर पास में लिया। और उठे घुटनों पर दोनों हाथ रख उनकी हथेलियों में सिर टेक दिया।

ऐसे वह क्या सुनती और क्या सोचती थी! अपने अंदर से वह क्या पाना चाहती थी! बहुत काल तक वह उस तरह बैठी रही, जैसे उसमें कुछ समाधान हो। अन्दर मंथन-ही-मंथन हो, और मंथन हो।

सवेरा होगा। दिन उजला होकर मुंह दिखायगा। लोग चल-फिर करेंगे। संसार जगेगा। तब प्रतिभा का भी खिलवाड़ का चक्र आरम्भ हो जायगा। लोगों की आंखें ललचेंगी, और प्रतिभा सबको अपनी मुस्कराहट देगी।

ओ, हे, अन्धकार के परमेश्वर! क्या यही होता रहेगा? आए दिन यही होगा? सब मेरी मुस्कराहट लेंगे, मेरा आनंद लेंगे? पर मेरा दुःख लेने वाला क्या कोई न होगा! हे, मेरे ईश्वर! तुम मुझको कब लोगे, बताओ।

तुम जो स्वयं आनंद हो, और इसलिए दूसरे का दुःख ही लेना चाहते हो। नहीं कह सकते, प्रतिभा यही सोचती और यही चाहती थी। जाने उसमें क्या हो रहा था। जाने कब तक वह यों हथेली पर माथा झुकाए अपना बोझ घुटनों पर दिये बैठी रही, और कब जाकर वह सो सकी।

वह तो नहीं मालूम, पर यह तो हमतुम सब किसी को मालूम ही है कि अगले दिन, उससे अगले दिन और उससे भी अगले दिन प्रतिभा सवेरे की ओस से नहाए गुलाब-सी गुलाबी, और ताज़ा गुलाब-सी अपनी चपल भाव-भंगिमा से इसकी, उसको और सबको अकुंठित भाव से किस प्रकार मुस्कराहट का और प्रसन्नता का दान करती दीखा करेगी। यौवन है तब तक क्या उस अमर-भावना का मुक्त हस्तदान कुछ भी कम हो सकेगा ? नहीं हो सकेगा, और इस अभिशाप का ही वरदान के रूप में वह जगत को प्रतिदान देती रहेगी।

छः

ध्रुव-यात्रा

: १ :

राजा रिपुदमन बहादुर उत्तरी ध्रुवको जीतकर योरुपके नगर-नगरसे बधाइयां लेते हुए हिंदुस्तान आ रहे हैं। यह ख़बर अख़बारों ने पहले सफे पर मोटे अक्षरों में छापी।

उर्मिला ने ख़बर पढ़ी और पास पालने में सोते शिशु का चुम्बन लिया।

अगले दिन पत्रों ने बताया कि योरुप के तट एथेन्स से हवाई जहाज़ पर भारत के लिए रवाना होते समय उन्होंने योरुप के लिए संदेश माँगने पर कहा कि उसे 'अद्भुत' की पूजा की आदत छोड़नी चाहिए।

उर्मिला ने यह भी पढ़ा।

अब वह बम्बई आ पहुंचे हैं, जहां स्वागत की ज़ोर-शोर की तैयारियां हैं। लेकिन उन्हें दिल्ली आना है। नागरिक आग्रह कर रहे हैं और शिष्ट-मंडल मिल रहा है। उसकी प्रार्थना सफल हुई तो वह दिल्ली के लिए कल रवाना हो सकेंगे। अख़बार के विशेष प्रतिनिधि का अनुमान है कि उनको झुकाना कठिन होगा। वह यद्यपि सबसे सौजन्य से मिलते हैं, पर यह भी स्पष्ट है कि उनको अपने सम्बन्ध के प्रदर्शनों में उल्लास नहीं है। सम्वाद्दाता ने लिखा है, "मैं मिला तब उनका चेहरा ऐसा था कि वह यहाँ न हों, जाने कहीं दूर हों।"

उर्मिला ने पढ़ा और पढ़कर अख़बार अलग रख दिया।

सचमुच राजा रिपुदमन बम्बई नहीं ठहर सके। छपते-छपते की सूचना है कि आज सवेरे के झुटपुटे में उनका जहाज़ निर्विघ्न दिल्ली पहुँच गया है।

एक दिन, दो दिन, तीन दिन। उर्मिला रोज़ अख़बार पढ़ती है। इन दिनों वह कहीं बाहर नहीं गई। राजा रिपु को लोग अवकाश नहीं दे रहे हैं। सुना जाता है कि वह दिल्ली छोड़ेंगे। कहाँ जायंगे, इसके कई अनुमान हैं। निश्चय यह है कि जायंगे किसी कठिन यात्रा पर।

उर्मिला ने सदा की भाँति यह भी पढ़ लिया।

चौथे दिन एक बड़ा मोटा लिफ़ाफ़ा उसे मिला। अन्दर ख़त संक्षिप्त था। पढ़ा, और उसी तरह मोड़कर लिफ़ाफ़े में रख दिया। फिर बच्चे की ओर ध्यान दिया। वह जागने को तैयार न था। फिर भी उठाकर उसे कन्धे से लगाया और कमरे में डोलने लगी।

: २ :

इधर राजा रिपुदमन को अपने से शिकायत है। उन्हें नींद कम आती है। मन पर पूरा काबू नहीं मालूम होता। सामने की चीज़ पर एकाग्र होने में कठिनाई होती है। नहीं चाहते,वहां ख़्याल जाते हैं। कभी तो अपनी ही कल्पनाओं से उन्हें डर लगने लगता है। अभी योरुप से आते हुए, ऊपर आसमान की तरह, नीचे भी गहन और अपार नीलिमा को देखकर उन्हें होता था कि क्यों इस जहाज़ से मैं इस नगर में कूद नहीं पड़ूं। सारांश, इसी तरह की अस्त-व्यस्त बातें उनके मन में उठ आया करती हैं और वह अपने से असंतुष्ट हैं।

योरुप में ही उन्होंने मानसोपचार के सम्बन्ध में आचार्य मारुति की ख़्याति सुनी थी। भारत में, और तिस पर दिल्ली में रहकर जिन मारुति को नहीं जानते थे, उन्हींके विषय में योरुप के देशों से वह बड़ी श्रद्धा लेकर लौटे हैं। इसलिए अवकाश पाते ही वह उनकी शरण में पहुंचे। यद्यपि सन् १९६० की बात है कि जिस वर्ष आचार्य का देहान्त हुआ, पर उस समय वह जीवित थे।

अभिवादनपूर्वक आचार्य ने कहा—"वैद्य के पास रोगी आते हैं। विजेता मेरे पास किस सौभाग्य से आये हैं?"

रिपु—"रोगी ही आपके पास आया है। विजेता छल है और उस

दुनिया के छल को दुनिया के लिए छोड़िये । पर आप तो जानते हैं ।"

आचार्य—"हाँ, चेहरे पर आपके विजय नहीं पराजय देखता हूं। शिकायत क्या है ?"

रिपु—"मैं खुद नहीं जानता। मुझे नींद नहीं आती। और मन पर मेरा काबू नहीं जमता।"

"हूँ—क्या होता है ?"

"जो नहीं चाहता, मन के अन्दर वह सब कुछ हुआ करता है ?"

"खास तौर पर आप क्या नहीं चाहते ?"

"क्या कहूँ ? यही देखिये कि हिन्दुस्तान लौट आया हूँ, जबकि ध्रुव पर अभी बहुत काम बाकी है। विजेता शब्द व्यंग्य है, ध्रुव देश भी हम सबके लिए उद्यान होना चाहिए। एक अकेला झण्डा गाड़ आने से क्या होता है ? यह सब काम बाकी है। फिर भी मैं हिंदुस्तान आ गया। भला क्यों ?"

मारुति ग़ौर से रिपुदमन को देखते रहे। बोले—"तो हिन्दुस्तान न आना ज़रूरी था ?"

"हाँ, आना किसी भी तरह ज़रूरी न था।"

"क्यों ? हिन्दुस्तान तो घर है।"

"पर क्या मेरा ? मेरा घर तो ध्रुव भी हो सकता है।"

आचार्य ने ध्यानपूर्वक रिपुदमन को देखते हुए कुछ हँसकर कहा, "यानी हिन्दुस्तान को छोड़कर कोई घर हो सकता है !"

राजा रिपु ने उत्साह से कहा—"लेकिन क्यों कोई घर हो ? और मेरे जैसे आदमी के लिए !"

आचार्य—"ख़ैर, अब हम काम की बातें करें। अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। कल पहली बैठक दीजिए—तीन बजकर बीस मिनट पर। डायरी रखते हैं ? नहीं, तो अब से कल तक की डायरी रखिये। साथ जो ख़र्च करें उसका पाई-पाई हिसाब और जिनसे मिलें उनका ब्यौरा भी लिखियेगा।"

रिपु—"आपका क्या ख़याल है ? नरवस सिस्टम में कुछ ख़राबी है ?"

"वह सब अभी न कह सकूँगा। मैं सोचता हूँ कोई ख़राबी नहीं है। मैं वैज्ञानिक से अधिक विश्वासी हूँ। विश्वास में बहुत शक्ति है। अब हम कल मिलेंगे।""""जी नहीं, इसके लिए बाहर सेक्रेटरी है।"

बड़े-बड़े नोटों को वापस पर्स में रखते हुए राजा ने कहा—"मेरा स्वास्थ्य आप मुझे दे दें तो मैं बड़ा ऋणी होऊँ।"

आचार्य हँसकर बोले—"लेकिन आप तो स्वस्थ ही हैं। मैं आत्मा को मानता और शरीरको जानता हूँ। शरीर आत्माका यंत्र है यंत्र। आपका साबित है, निरोग है—सब अवयव ठीक हैं। कृपया कल सवेरे आप यहाँ के यंत्र-मंदिर में भी हो आएं। सेक्रेटरी सब बता देंगे। वहाँ आपके हृदय, मस्तिष्क और शेष शरीर का पूरा निरीक्षण हो जायगा और परिणाम दोपहर तक मैं देख चुकूँगा। यह सब शास्त्रीय सावधानी है और उपयोगी भी है। लेकिन आप मान लें कि आपका शरीर एक दम तन्दुरुस्त है।...कल डायरी लाइयेगा।"

अगले दिन रिपुदमन समय पर पहुँचे। आचार्य ने तरह-तरह के नक्शे और चित्र उनके आगे रखे और कहा—"देखिए, आपके यंत्र का पूरा खुलासा मौजूद है। मस्तक और हृदय-सम्बन्धी परिणाम सही नहीं उतरे हैं तो विकार उन अवयवों में मत मानिए। व्यतिरेक यों है भी सूक्ष्म""""डायरी है ?"

रिपुदमन ने क्षमा माँगी, कहा—"मैं चित्त को उस जितना भी तो एकाग्र न कर सका।"

आचार्य हँसे, बोले—"कोई बात नहीं; अगली बार सही, यह कहिये कि अपने भाई महाराज साहब और रानी माता से मिलने आप जाइयेगा। विजेता को जीतने के लिए मारके बहुत हैं, पर अपनों का मन जीतना भी छोटी बात नहीं है। मैंने कल फ़ोन पर महाराज से बातेंकी थीं। आप जो करो वह उसमें खुशी हैं। लेकिन अपने सुखसे आप इतने विमुख न रहो—यह भी वह चाहते हैं। अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध

मिल सकते हैं, या आप चुन लो। विवाह अनिष्ट वस्तु नहीं है। वह तो एक आश्रम का द्वार है। क्यों, यह चर्चा अरुचिकर है ?"

रिपुदमन ने कहा—"जी, मैं उसके अयोग्य हूँ। विवाह से व्यक्ति रुकता है। वह बँधता है। वह तब सबका नहीं हो सकता। अपना एक कोल्हू बनाकर उसमें जुता हुआ चक्कर में ही घूम सकता है। नहीं, उस बारे में मुझे कुछ कहने को नहीं है।"

आचार्य हँसकर बोले—"विवाह चक्कर सही। लेकिन प्रेम—?"

रिपुदमन ने कुछ जवाब नहीं दिया।

"प्रेम से तो नाराज़ नहीं हो ? विवाह का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रेम के निमित्त से उसकी सृष्टि है। इससे विवाह की बात तो दुकानदारी की है। सचाई की बात प्रेम है। इस बारे में तुम अपने से बात करके देखो। वह बात डायरी में दर्ज कीजिएगा। अब परसों मिलेंगे।"

"परसों यदि न गया।"

"कहाँ न गये ?"

"यही हिमालय या कहीं।"

"जहाँ चाहे जाओ। लेकिन मेरा दो बैठकों का कर्ज़ अभी बाकी है। परसों वही तीन बीस पर आप आओगे। अब घड़ी हमें समय देना नहीं चाहती।"

"परसों के विषय में मैं आशावान से अधिक नहीं हूँ।"

"अच्छा तो कल उनसे मिलकर आशा को विश्वास बना लीजिए, जिनसे न मिलने के लिए मुझसे मिला जाता है। फ़ोन पर मिलिये, वह न हो और दूरी हो तो हवाई यात्रा कीजिए। पर खटका छोड़कर उनसे मिलिये—अवश्य और कल ! रेग्युलेटर जहाँ है उसके विपरीत मेरी सलाह जाकर बेकार ही हो सकती है।"

रिपुदमन ने चमककर कहा—"किसकी बात आप करते हैं।"

"नहीं जानता वह कौन है ! और जानूँगा तो आप ही से

जानूँगा।...देखिये ध्रुव से और हिमालय से लड़ाई भी ठीक-ठीक तभी आपकी चलेगी, जब अपनी लड़ाई एक हद तक सुलझ चुकेगी। प्रेम का इनकार अपने से इनकार है।....लेकिन घड़ी की आज्ञा का उल्लंघन हम अधिक नहीं करेंगे।"

"देखिये, परसों यदि आ सका।"

"आप आयेंगे...नमस्कार।"

"नमस्कार।"

: २ :

समय सब पर बह जाता है और अखबार कल को पीछे छोड़ आज पर चलते हैं! राजा रिपु नयेपन से जल्दी छूट गए। ऐसे समय सिनेमा के एक बाक्स में उर्मिला से उन्होंने भेंट की। उर्मिला बच्चे को साथ लाई थी। राजा सिनेमा के द्वार पर उसे मिले और बच्चे को गोद में लेना चाहा। उर्मिला ने जैसे यह नहीं देखा और अपने कन्धे से उसे लगाए वह उनके साथ ज़ीने पर चढ़ती चली गई। बाक्स में आकर व्यस्ततापूर्वक उन्होंने बिजली का पंखा खोल दिया, पूछा—"कुछ मँगाऊँ?"

"नहीं"

घण्टी बजाकर आदमी को बुलाया, कहा—"दो क्रीम?"

उसके जाने पर कहा—"लाओ मुझे दो न, क्या नाम है!"

उर्मिला ने मुस्कराकर कहा—"नाम अब तुम दो।"

"तो लो, आदित्यप्रसन्नबहादुर खूब है!"

"बड़े आदमी बड़ा नाम चाहते हैं। मैं तो मधु कहती हूँ।"

"तो वह भी ठीक है, माधवेन्द्रबहादुर खूब है!"

"तुम जानो। मुझे तो मधु काफ़ी है।"

इस तरह कुछ बातें हुईं और बीच ही में ज़रूरत हुई कि दोनों खेल से उठ जायं और कहीं जाकर आपस की सफाई कर लें।

दूर जमुना किनारे पहुँचकर राजा ने कहा—"अब कहो, मुझे क्या कहती हो ?"

"कहती हूँ कि तुम क्यों अपना काम बीच में छोड़कर आए ?"

"मेरा काम क्या है ?"

"मेरी और मेरे बच्चे की चिन्ता ज़रूर तुम्हारा काम नहीं है। मैंने कितनी बार तुमसे कहा, तुम उससे ज्यादा के लिए हो।"

"उर्मिला, अब भी मुझसे नाराज़ हो ?"

"नहीं, तुम पर गर्वित हूँ।"

"मैंने तुम्हारा घर छुड़ाया। सबमें रुसवा किया। इज्ज़त ली। तुमको अकेला छोड़ दिया। उर्मिला, मुझे जो कहो थोड़ा। पर अब बताओ, मुझे क्या करने को कहती हो ? मैं तुम्हारा हूँ। न रियासत का हूँ, न ध्रुव का हूँ। मैं बस, तुम्हारा हूँ। अब कहो।"

"देखो राजा, तुम भूलते हो। गिरिस्ती की-सी बात न करो। महाप्राणों की मर्यादा और है। तुम उन्हीं में हो। मेरे लिए क्या यह गौरव कम है कि मैं तुम्हारे पुत्र की माँ हूँ। मुझे दूसरी सब बातों से क्या मतलब है ? लेकिन तुम्हें हक नहीं कि मुझसे घिरो। दुनिया को भी जताने की ज़रूरत नहीं कि मेरा बालक तुम्हारा है। मेरा जानना मेरे गर्व को काफ़ी है। मेरा अभिमान इसमें तीसरे को शरीक न करेगा। लेकिन मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगी, अगर जानूँगी कि मैं तुम्हारी गति में बाधा हूँ। अपने भीतर के वेग को शिथिल न करो, तीर की नाईं बढ़े चलो कि जब तक लक्ष्य पार हो। याद रखना कि पीछे एक है जो इसीके लिए जीती है।"

"उर्मिला, तुमने मुझे ध्रुव भेजा। कहती थी—उसके बाद मुझे दक्खिनी ध्रुव जीतने जाना होगा। क्या सच मुझे वहीं जाना होगा ?"

"राजा, कैसी बात करते हो। तुम कहीं रुक कैसे सकते हो ? जाना होगा नहीं, जाओगे ? अतुल वेग तुममें है, क्या वह यों ही ? नहीं, मैं देखूँगी कि कुछ उसके सामने नहीं टिक सकता। मैं तुम्हारी

बनी तो क्या इतना नहीं कर सकती ? इस पुत्र को देखो। भवितव्य के प्रति यह तुम्हारा दान है। अब तुम उऋण हो, गति के लिए मुक्त हो। ध्रुव धरती के हो चुकेंगे तब कि आकाश के सामने होंगे। राजा तुमको रुकना नहीं है। पथ अनन्त हो, यही गति का आनन्द है।"

"उर्मिला, मैं आचार्य मारुति के गया था—"

"मारुति ! वह ढोंगी ?"

"वह श्रद्धेय हैं, उर्मिला !"

"जानती हूँ, वह स्त्री को चूल्हे के और आदमी को हल के लिए पैदा हुआ समझता है। वह महत्व का शत्रु और साधारणता का अनुचर है। उसने क्या कहा ?"

"तुम उन्हें जानती हो ?"

"माँ उनकी भक्त थीं। वह अकसर हमारे यहाँ आते थे। उन्हींकी सीख से माँ ने मुझे संस्कृत पढ़ाई और नई हवा से बचाया। तभी से जानती हूँ। वह तेजस्विता का अपहर्त्ता है। अब वहां न जाना। उसने कहा क्या था ?"

"कहा था, यह गति अगति है। जगह बदलना नहीं, सचेत होना गतिशीलता का लक्षण है। उसकी शायद राय है कि मुझे घूमना नहीं, विवाह करना चाहिए।"

"मैं जानती थी। और तुम्हारी क्या राय है ?"

"वही जानने तुम्हारे पास आया हूं। मारुति सब जानते हों, मुझको तुम ही जानती हो। इसलिए तुम ही कहो, मुझको क्या करना है ?"

"विवाह नहीं करना है।"

"उर्मिला !"

"तुम्हारा शरीर स्वस्थ है और रक्त उष्ण है तो···"

"उर्मिला !"

"तो स्त्रियों की कहीं कमी नहीं है।"

"बको मत, उर्मिला, तुम मुझे जानती हो।"

"जानती हूं, इसीसे कहती हूँ। तुम्हारे लिए क्या मैं स्त्री हूँ ? नहीं, प्रेमिका हूँ। मैं इस बारेमें कभी भूल नहीं करूंगी। इसीलिए किसी स्त्री के प्रति तुममें मैं निषेध नहीं चाह सकती। मुझमें तुम्हारे लिए प्रेम है,इससे सिद्धि के अन्त तक तुम्हें पहुँचाये बिना मैं कैसे रह सकती हूँ।"

"उर्मिला, सिद्धि मृत्यु से पहले कहां है ?"

"वह मृत्यु के भी पार है राजा ! इससे मुझ तक लौटने की आशा लेकर तुम नहीं जाओगे। सौभाग्य का क्षण मेरे लिए शाश्वत है। उस का पुनरावर्त्तन कैसा ?"

"उर्मिला, तो मुझे जाना ही होगा ? तुम्हारा प्रेम दया नहीं जानेगा ?"

"यह क्या कहते हो, राजा ! मैं तुम्हें पाने के लिए भेजती हूँ, और तुम मुझे पाने के लिए जाते हो। यही तो मिलने की राह है। तुम भूलते क्यों हो ?"

"उर्मिला, आचार्य मारुति ने कहा था—साधारण रहो, सरल रहो। हम दोनों कहीं अपने साथ छल तो नहीं कर रहे हैं ?"

"नहीं राजा, मारुति नहीं जानता। वह समझ की बात समझ से भी परे है, इस तक प्रेम ही पहुँच सकता है। जाओ राजा, जाओ। मुझ को परिपूर्ण करो, स्वयं भी सम्पूर्ण होओ।"

"देखो उर्मिला, तुम भी रो रही हो।"

"हाँ, स्त्री रो रही है, प्रेमिका प्रसन्न है। स्त्री की मत सुनना, मैं भी पुरुष की नहीं सुनूंगी। दोनों जने प्रेम की सुनेंगे। प्रेम जो अपने सिवा किसी दया को, किसी कुछ को नहीं जानता।"

: ४ :

पौने चार बजे राजा रिपु आचार्य के यहाँ पहुँचे। डायरी दी। आचार्य ने उसे ग़ौर से देखा। अनन्तर नोटबुक अलग रखी। कुछ देर विचार में डूबे रहे। अनन्तर सहसा उबरकर बोले, "क्षमा कीजियेगा। मैं कुछ याद करता रह गया। आपने डायरी में संक्षिप्त लिखा। उर्मिला

माता है और कुमारी है—यही न ?"

"जी"

"तुम्हारे पुत्र की अवस्था क्या है ?"

"वर्ष से कुछ अधिक।"

"उत्तरी ध्रुव जाने में उर्मिला की सम्मति थी ?"

"प्रेरणा थी।"

"यह विचार उसने कहाँ से पाया ?"

"शायद मुझसे ही।"

"आरम्भ से तुम विवाह को उद्यत थे, वह नहीं ?"

"जी नहीं। मैं बचता था, वह उद्यत थी।"

"हुँह ! बचते थे, अपनी स्थिति और माता-पिता के कारण ?"

"कुछ अपने स्वप्नों के कारण भी।"

"हुंह,··· फिर ?"

"गर्भ के बाद मैं तैयार हुआ कि हम साथ रहें।"

"विवाहपूर्वक ?"

"जी, वह चाहे तो विवाहपूर्वक भी।"

"हुंह,···फिर ?"

"तब उसका आग्रह हुआ कि मुझे ध्रुव के लिए जाना होगा।"

"तो उस आग्रह की रक्षा में आप गये ?"

"पूरी तरह नहीं। मन से मैं भी साथ रहने का बहुत इच्छुक न था। इससे निकल जाना जाहता था।"

"तुम्हारे आने से तो वह प्रसन्न हुई ?"

"शायद हुई। लेकिन रुकने से अप्रसन्न है।"

"क्या कहती है ?"

"कहती है कि जाओ। जय-यात्रा की कहीं समाप्ति नहीं। सिद्धि तक जाओ, जो मृत्यु के पार है।"

अकस्मात् आवेश में आकर आचार्य बोले—"कौन, उर्मिला ? वही

धनञ्जयी की लड़की ? वह यह कहती है ?"

"जी !"

"वह पागल है।"

"यही वह आपके बारे में कहती है।"

आचार्य ज़ोर से बोले—"चुप रहो, तुम जानते नहीं। वह मेरी बेटी है।"

"बेटी !"

"मैं बुड्ढा हूँ, रिपु, तुम समझदार हो। हाँ, सगी बेटी।"

"आचार्यजी, यह आप क्या कह रहे हैं ? तो आप सब जानते थे।"

"सब नहीं तो बहुत कुछ जानता ही था। देखो रिपुदमन, अब बताओ तुम क्या कहते हो ?"

"मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं कहता। मेरे लिए सब ऊर्मि से पूछिये।"

"सुनो रिपुदमन, तुम अच्छे लड़के हो। ऊर्मि मुझसे बाहर न होगी। पुत्र की व्यवस्था हो जायगी और तुम लोग विवाह करके यहीं रहोगे।"

रिपुदमन ने हाथों से मुँह ढककर कहा—"मैं कुछ नहीं जानता। ऊर्मि कहे, वही मेरी होनहार है।"

"ऊर्मि तो मेरी ही बेटी है, रिपुदमन, निराश न हो।"

: ५ :

आचार्य के समक्ष पहुंचकर उर्मिला ने कहा—"आपने मुझे बुलाया था ?"

"हाँ बेटी, रिपुदमन ने सब कहा है। जो हुआ, हुआ। अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिए।"

"अब से मतलब कि पहले नहीं करना चाहिए था ?"

"विवाह हुआ है तब तो खुशी की बात है। फिर वह प्रकट क्यों न हो ? तुम दोनों साथ रहो।"

"भगवान् पर तो सब प्रकट है। और साथ बहुतेरे लोग रहते हैं।"

"तो तुम क्या चाहती हो?"

"वही जो राजा रिपुदमन उस अवस्था में चाहते थे, जब मुझे मिले थे। उनके स्वप्न मेरे कारण भग्न होने चाहिए कि पूर्ण? मेरी चिन्ता उन्हें उनके प्रकृत मार्ग से हटाये, यह मैं कैसे सह सकती हूँ?"

"स्वप्न तो सत्य नहीं हैं, बेटी! तबकी मनकी बहक को उसके लिए सदा क्यों अङ्कुश बनाए रखना चाहती हो? एक भूल के लिए किसीसे इतना चिढ़ना न चाहिए।"

"आचार्यजी, आप किस अधिकार से मुझसे यह कह रहे हैं?"

"रिपु ने जो अपनी हैसियत और माता-पिता के ख्याल से आरम्भ में, विवाह में झिझक की, इसीका न यह बदला है?"

"आचार्यजी, आप इन बातों को नहीं समझेंगे। शास्त्र में से स्त्री को आप नहीं जान लेंगे।"

"बेटी, फिर कोई किसमें से किसको जानेगा, बता दो?"

"सब कुछ प्रेम में से जाना जायगा, जो कि मेरे लिए आपके पास नहीं है।"

"सच बेटी, मेरे पास वह नहीं है। और तेरे लिए जितना चाहूँ उतना है, यह मैं किसी तरह न कह सकूँगा। लेकिन तुमसे जो सचाई छिपाता रहा हूँ और अब छिपा रहा हूँ, वह अनर्थ अपने लिए नहीं, तेरे प्रेम के लिए ही मुझसे बन सका है, यह भी झूठ नहीं है। बेटी, मैं काफ़ी जी लिया। अब मरने में देर लगाने की बिलकुल इच्छा नहीं है। ऐसे समय तेरे अहित की बात कह सकूँगा, ऐसा निठुर मुझे न मानना। रिपुदमन को भरमा मत, उर्मिला! किसी का सपना होने के लिए वह नहीं है। तुम लोग विवाह करो और राज-मार्ग पर चल पड़ो।"

उर्मिला ने हँसकर कहा—"आप थक गए हैं, आचार्यजी! भीड़ चलती रही है, इसी कारण जो प्रशस्त और स्वीकृत हो गया है वही आपका राज-मार्ग है न? पर मुक्ति का पथ अकेले का है। अकेले ही उस पर चला जायगा। वहाँ पाथेय तक पात्र नहीं हैं। सब एक-एक हैं।"

"बेटी, यह क्या कहती है ? सनातन ने जिसको प्रतिष्ठा दी है, बुद्धि के अहङ्कार में उसका तर्जन श्रेयस्कर नहीं होने वाला है। उर्मिला, यह एक बुड्ढे की बात सुन रखो। पर बेटी, उसे छोड़ो। बताओ, मुझे माफ़ कर सकोगी ?"

"आप रिपुदमन को, अपनी समझ से, उसके हित की ओर मोड़ना चाहते हैं, उसके लिए आप को क्षमा माँगने की ज़रूरत है ?"

"तो तुम रिपु से नाराज़ ही रहोगी ? उसके साथ अपने को भी दण्ड ही देती रहोगी ?"

"मुझे पाने के लिए उन्हें जाना होगा; उन्हें पाने के लिए मुझे भेजना होगा—यह आपको कैसे समझाऊँ ?"

"हाँ,मैं नहीं समझ सकूँगा। लेकिन मेरा हक और दावा है। सोचता था, भगवान् के आगे पहुँचूँगा, उससे पहले उस बात को कहने का मौका नहीं...! क्यों, तू अपने पिता की भी बात नहीं मानेगी ?"

"पिता को जीते-जी इस सम्बन्ध में, मैं कब सन्तोष दे सकी ?"

"बेटी, अब भी नहीं दे सकेगी ?"

उर्मिला ने चौंककर कहा—"क्या आचार्य जी ?"

मारुति का कंठ भर आया। काँपते हुए बोले—"हाँ,बेटी ! चाहे तो अब तू अपने बाप को सन्तोष और क्षमा दोनों दे सकती है।"

ऊर्मि स्तब्ध, आचार्य को देखती रही। उनकी आँखों से तार-तार आँसू बह रहे थे ! उनकी दशा दयनीय थी। बोली—"मुझ अभागिन के भाग्य में आज्ञा-पालन तक का सुख, हाय, विधाता क्यों नहीं लिख सका ? जाती हूँ, इस हतभागिन को भूल जाइएगा।"

: ६ :

रिपुदमन ने कहा—"आचार्य से तुम मिली थीं ?"

"मिली थी।"

"अब मुझे क्या करना है ?"

"करना क्या है राजा, तुम्हें जाना है, मुझे भेजना है !"

"कहाँ जाना है—दक्खिनी ध्रुव !"

"हाँ, नहीं तो उत्तर के बाद कहीं तुम दक्षिण के लिए शेष न रहो !"

"दक्षिण के बाद फिर किसी के लिए शेष बचने की बात नहीं रह जायगी न ?"

"दिशाओं के द्वार-दिगंत में हम खो जायँ। शेष यहाँ किसको रहना है ?"

"छोड़ो, मैं तुम्हें नहीं समझता, तुम्हारी संस्कृत नहीं समझता। सीधे बताओ, मुझे कब जाना है ?"

"जब हवाई जहाज मिल जाय।"

"तो लो, तुम्हारे सामने फोन से तय किये लेता हूँ।"

फोन पर भी बात करते समय टकटकी बाँधकर उर्मिला रिपु को देखती रही। अनंतर पूछा—"तो परसों शटलैण्ड द्वीप के लिए पूरा जहाज हो गया ?"

"हां, हो गया।"

"लेकिन परसों कैसे जाओगे, दल जुटाना नहीं है ?"

"तुम्हारा मन रखूंगा ! दल के लिए नहीं ठहरूँगा।"

"लेकिन उसके बिना क्या होगा ? नहीं, परसों तुम नहीं जाओगे।"

"और न सताओ उर्मिला, जाऊंगा। अमरीका फ़ोन किये देता हूँ। दक्षिण से कुछेक साथी हो जायंगे।"

"नहीं राजा, परसों नहीं जाओगे।"

"मैं स्त्री की बात नहीं सुनूँगा मुझे प्रेमिका के मन्त्र का वरदान है।"

आंखों में आंसू लाकर उर्मिला ने रिपु के दोनों हाथ पकड़कर कहा—"परसों नहीं जाओगे तो कुछ हरज है ? यह तो बहुत जल्दी है ?"

रिपु हाथ झटककर खड़ा हो गया, बोला—"मेरे लिए रुकना

नहीं है। परसों तक इसी प्रायश्चित्त में रहना है कि तब तक क्यों रुक रहा हूँ।"

उर्मिला के फैले हुए हाथ खाली रहे। और वह कहती ही रही—"राजा, ओ मेरे राजा !"

: ७ :

दुनिया के अख़बारों में धूम मच गई। लोगों की उत्कण्ठा का ठिकाना न था। योरुप, अमरीका, रूस आदि देशों के टेलीफ़ोन जैसे इसी काम के हो गए। ध्रुव-यात्रा योजना की बारीकियां पाने के बारे में सम्वाददाताओं में होड़ मच उठी। रिपुदमन उन्हें कुछ न बता सका, यह उसकी दक्षता का प्रमाण बना। हवाई जहाज़ जो शटलैंड के लिए चार्टर हुआ था, उसकी भिन्न-भिन्न कोणों से ली गई असंख्य तस्वीरें छपीं।

उर्मिला अख़बार लेती, पढ़ती और रख देती। अनन्तर शून्य में देखती रह जाती। नहीं तो अपने बच्चे में डूबती।

एक दिन, दो दिन। वह कहीं बाहर नहीं गई। टेलीफ़ोन पास रख छोड़ा। पर कोई नहीं, कुछ नहीं। अख़बार के पन्नों से आगे और कोई बात उस तक नहीं आई।

आज अन्तिम सन्ध्या है। राष्ट्रपति की ओर से दिया गया भोज हो रहा होगा। सब राष्ट्र-दूत होंगे, सब नायक, सब दलपति। गई रात तक वह इन कल्पनाओं में रही।

तीसरा दिन। उर्मिला ने अख़बार उठाया। सुर्ख़ी है और बाक्स में ख़बर है। राजा रिपुदमन सवेरे ख़ून में भरे पाये गए। गोली का कनपटी के आरपार निशाना है।

ख़बर छोटी थी, जल्दी पढ़ ली गई। लेकिन पूरे अख़बार में विवरण और विस्तार के साथ दूसरी सूचनाएं थीं। जिन्हें उर्मिला पढ़ती ही चली गई, पढ़ती ही चली गई। पिछली संध्या को जगह-जगह

राजा रिपुदमन के सम्मान में सभाएं हुई थीं। उनकी चर्चा थी। खास कर राष्ट्रपति के उस भोज का पूरा विवरण था, जिसे दुनिया का एक महत्वपूर्ण समारोह कहा गया था।

उर्मिला रस की एक बूंद नहीं छोड़ सकी। उसने अक्षर-अक्षर सब पढ़ा।

दोपहर बीत गई, तब नौकरानी ने चेताया कि खाना तैयार है। इस समय उसने भी तत्परता से कहा—"मैं भी तैयार हूं। यहीं ले आओ। प्लेट्स इसी अखबार पर रख दो।"

उसी दिन अखबारों ने अपने खास अङ्क में मृत व्यक्ति का तकिये के नीचे से मिला जो पत्र छापा था, वह भी नीचे दिया जाता है।

"सब के प्रति—

बन्धुओ,

मैं दक्षिणी ध्रुव जा रहा था, सब तैयारियाँ थीं। ध्रुव में मुझे महत्व नहीं है। फिर भी मैं जाना चाहता था। कारण, इस बार मुझे वापस आना नहीं था। ध्रुव के एकान्त में मृत्यु सुखकर होती। ध्रुव-यात्रा मेरी व्यक्तिगत बात थी, उसे सार्वजनिक महत्व दिया गया, यह अन्याय है। इसी शाम राष्ट्रपति और राष्ट्रदूतों ने मुझे बधाइयाँ दीं, मेरे पराक्रम को सराहा। पर उन्हें छल हुआ है। मैं यह श्रेय नहीं ले सकता। यह चोरी होगी। उस भ्रम में लोगों को रखना मेरे लिए गुनाह है। क्या अच्छा होता कि ध्रुव मैं जा सकता, लेकिन लोगों ने सार्वजनिक रुप से जो श्रेय मुझ पर डाला, उसका स्वल्पांश भी किसी तरह अपने साथ लेकर मैं नहीं बढ़ सकता हूं। यात्रा एकदम निजी कारणोंसे थी। मुझे बहुत खेद है कि मैं किसी से मिले आदेश और उसे दिये अपने वचन को पूरा नहीं कर पा रहा हूँ, लेकिन ध्रुव पर भी मुझे बचना था नहीं। इसलिए बचना अब भी नहीं है। मुझे संतोष है कि

किसी की परिपूर्णतामें मैं काम आ रहा हूँ। मैं पूरे होश-हवाश में अपना काम तमाम कर रहा हूं। भगवान् मेरे प्रिय के अर्थ मेरी आत्मा की रक्षा करें!"

सात

निस्तार

बाबू माताप्रसाद को, हाईकोर्ट की अपील में इलाहाबाद जाते समय उनके पड़ौसी लाला महावीरप्रसाद ने कह दिया था कि वहां से पुष्पा को साथ लेते आना, भूलना नहीं।

पुष्पा की बड़ी बहन मनोरमा इलाहाबाद ही रहती है। बहनोई हाईकोर्ट में ट्रांसलेटर है। पुष्पा यूनिवर्सिटी में बी० ए० में पढ़ती है।

बाबू माताप्रसाद छुटपन से पुष्पा को जानते हैं। उसके विवाह की बातचीत भी उनके मार्फत चल रही है। लाला महावीरप्रसाद के वे घनिष्ट मित्र हैं।

इलाहाबाद से चलने की बात थी। उससे कुछ घंटे पहले पुष्पा उनके घर आगई, कहने लगी—"मेरा पढ़ने का नुक्सान होगा। कुल पन्द्रह रोज की छुट्टियां तो हैं, फिर आना पड़ेगा।"

माताप्रसाद ने कहा—"तो आजाना। तुम्हारी मां ने बहुत कह दिया है।"

पुष्पा बोली—"नहीं, मैं नहीं जाऊंगी। फिर कौन पहुँचाने आयगा?"

"शायद मुझे कुछ दिनों में यहां आना हो। पहुंचाने का जिम्मा मुझ पर है। चल जल्दी कर। सामान लाई है?"

"सामान भी नहीं लाई हूं। मैं क्या करूंगी जाकर?"

"तेरे पिता ने जरूरी कह दिया था और वहां काम भी है।" हंसकर बोले—"यह आखिरी साल है, हमेशा पढ़े ही थोड़े जायगी!"

माताप्रसाद का कुछ ढंग ही ऐसा था कि पुष्पा का अनमनापन रह

गया और दोनों साथ इलाहाबादसे रवाना हुए। किन्तु चलने पर अधिक देर उनका मन स्वस्थ नहीं रहा। उनको शंका घेरने लगी। रेल में धीमे से उन्होंने पूछा—"पुष्पा क्या बात है?"

"कुछ नहीं!"

सुनकर वह रेल से बाहर देखने लगे। धरती भाग रही थी। किनारे पर पेड़ भी घूम रहे थे। खिड़की की राह वह बाहर ही देखते रहे। पुष्पा किताब पढ़ रही थी।

माताप्रसाद ने कहा—"पुष्पा, पानी देना।"

पुष्पा ने उठकर, सुराही से उंडेलकर गिलास में पानी दे दिया। वह गौर से उसे देखते रहे। आधा गिलास पानी पीकर गिलास वापिस लौटाते हुए कहा—"लो, रख दो।" फिर उसी तरह गौर से कुछ देर पुष्पा को देखते रहे।

पुष्पा बराबर सीट पर आ बैठी तो वह उसी तरह खिड़की के बाहर देखने लगे। ऐसे कुछ देर बीतने पर उन्होंने बहुत प्यार से और धीमे से पूछा—"कुछ तबियत खराब तो नहीं है?"

पुष्पाने उनकी आँखोंमें निगाह जमाकर कहा—"नहीं तो चाचाजी।"

"अच्छा"

भारी कंठ से यह कहकर वह फिर अपने में हो रहे। पर मन जमता नहीं था। वह इधर-उधर किसी चीज में नहीं रुकता था। ऐसे कानपुर निकल गया। अंधेरा हो रहा था। दूसरी कोई बर्थ खाली न थी। वह चाहते थे सो जायं और पुष्पा भी सो जाय। वह अपने ही भीतर की उठी बात को सुनना नहीं चाहते थे।

"लो बिस्तर कर लो।"

पुष्पा सुनकर भी बैठी ही रही, तो बोले—"लाओ, मैं ही किये देता हूँ। जरा उठो तो।"

पुष्पा उठकर उनके हाथ से होलडाल लेकर बिस्तर बिछाने लगी।

माताप्रसाद अलग खड़े हुए उसे गौर से देखने लगे। फिर बिस्तर पर बैठकर और उसके भी बैठ जाने पर स्निग्ध कंठ से बोले—"पुष्पा, तुम्हें कुछ महीने तो नहीं चढ़े हैं ?"

पुष्पा नीचे देखने लगी। और भी स्निग्ध और भीने कंठ से कहा, "घबराओ नहीं बेटी !"

पुष्पा बेहद धीमे बोली, "हां।"

सहसा ठहर, फिर पूछा—"कितने ?"

धोती माथे के आगे लाकर पुष्पा ने कहा—"शायद चार।"

मातांप्रसाद सुनकर चुप रह गए। थोड़ी देर बाद बोले—"तो यह क्या कर रही हो ? माता-पिता पर जाहिर होना चाहती हो ?"

"क्या करूं ? न जाऊं ?"

माताप्रसाद फिर सोचते रह गए।

उन्हें चुप देखकर पुष्पा बोली—"अगले स्टेशन से वापस लौट जाऊँ ?"

माताप्रसाद को इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझा।

"सोचती थी, दो रोज उनकी आंखों के आगे रह आती।"

माताप्रसाद अब भी नहीं बोले।

"उन्हें पता नहीं चलेगा। चल जायगा ?"

सुनकर उन्होंने पुष्पा को देखा। माथा और आंखें धोती की किनार की ओट में हैं। ऊपर पैर लेकर हाथ से अंगूठे का नाखून खुरच रही है।

पूछा, "लौटना चाहती हो ?"

"कहें तो अगले स्टेशन उतर जाऊँ।"

"अकेली जा सकोगी ?"

"जा सकूंगी।"

माताप्रसाद चुप रह गए।

काफी देर तक उन्हें चुप देखकर पूछा—"तो अगले स्टेशन मुझे उतर जाना है ?"

माताप्रसाद निरुत्तर रहे। उनकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी। अच्छा तो यही हो कि माता-पिता जान जायं लेकिन इसके लिए उन्हें तैयार करना जरूरी है। यों तो लड़की की जान की खैर नहीं। फिर मां जाने क्या कर बैठे। कुछ तय न कर पाते थे। इससे खीझ उठती थी। पर उसका अवसर न था। रेल का डब्बा था और यों भी कहने-सुनने की जगह से समस्या आगे आ गई थी।

देखा, पुष्पा छोटी-मोटी चीजों को समेटकर बैग में रख रही है।

सहसा उसने पूछा—"आप भी उतरेंगे ?"

चौंककर बोले—"मैं ?"

"कहें तो मैं अकेली उतर जाऊं ?"

जवाब अकस्मात् उनसे नहीं बना। उन्हें गुस्सा आ रहा था। पर किसी तरह भी झुंझलाहट का तनिक अंश भी वह प्रकट नहीं कर पाते थे। झटके से बोले—"चलो, इटावे में दूसरी गाड़ी ले लेंगे। पहले उतर कर तुम्हीं से निबट लूं।"

इटावे में वह भी साथ उतरे। वेटिंग रूम में रात गुजारनी होगी, सवेरे आठ बजे गाड़ी मिलेगी। मुझे आज ही मेरठ पहुंचना था। कचहरी में केस है। आदि-आदि सोचकर पुष्पा पर रह-रहकर उन्हें तैश आता था। बोले, "अब बताओ क्या करना चाहती हो ?"

पुष्पा चारों ओर से पूरी तरह धोती लपेटे, पल्ला आगे ले, नीचे देखती हुई, गुमसुम बैठी रही। बोली नहीं।

माताप्रसाद के मन में तरह-तरह की बातें उठीं। बहुत-से दुर्वचन, बहुत-से व्यंग्य। पर कोई भी तीखी बात इस सामने बैठी लड़की से वह नहीं कह सके, और स्वयं में झुलसते रह गए।

"बताओ जी, तुम फिर क्या कहती हो ?"

पुष्पा ने धीमी वाणी में कहा—"मैं रेल के नीचे कट सकती हूं।"

सुनकर माताप्रसाद के मन में आया कि कहें कि रेल के नीचे मरने

का वक्त तो पहले था, लड़की ! अब तो तू उस वक्त को भी गंवा चुकी है। लेकिन वह कुछ भी नहीं कह पाए। कुछ न सूझा तो बोले—"नहीं, मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता हूँ।"

पुष्पा बोली, "और मैं भी इलाहाबाद वापस कैसे जा सकती हूं, चाचाजी ?"

"क्यों ? तो फिर कहां जाओगी ?"

"कहीं नहीं जाऊंगी। अपना अन्त तो कर ही सकती हूं।"

"क्यों ? मनोरमा के पास नहीं जासकती ? वह जानती तो होगी ?"

"नहीं, कोई नहीं जानता। और जिसे जानना चाहिए वह इस बारे में सोचना नहीं चाहता।"

कुछ उकताकर माताप्रसाद ने कहा—"मुझसे पूछो तो तुम्हें उसी के पास जाना चाहिए। वह है कौन ?"

पुष्पा ने अब ऊपर की ओर देखा, आँखें भरी थीं, कहा—"वह बचना चाहते हैं चाचाजी। हम सबको उन्हें बचाना चाहिए।"

"क्यों बचाना चाहिए ?"

"दया धर्म बताया है, चाचाजी।"

माताप्रसाद को बहुत बुरा लगा। धमकाते-से बोले—"तो तू क्या करेगी ?"

"मरूंगी नहीं, तो जिस-तिस तरह जी लूंगी।"

और भी कड़वे होकर वह बोले—"बदनसीब, मेरठ के लिए ऐसी हालत में तू मेरे साथ क्यों चली आई ? लाज नहीं आई ?"

पुष्पा रो पड़ी। बोली—"कुछ नहीं आया, चाचाजी कुछ भी समझ में नहीं आया। अब कहो वह करूं !"

माताप्रसाद उधेड़-बुन में इस वक्त टहल रहे थे। ऐसी हालत उनकी कभी नहीं हुई। क्या झमेला है। इस लड़की ने मुसीबत में डाल दिया है। बोले—"तुमने मुझे इलाहाबाद में सब-कुछ क्यों नहीं कहा ?"

"मैंने तो कहीं भी कुछ नहीं कहा, आप ही न कहलाते तो मैं क्या किसी भी तरह कह सकती थी ?"

"तो फिर चलो मेरठ। झगड़ा क्या है ? किये का फल भुगतो ।"

"उसके लिए तो मैं तैयार हूं, लेकिन मां-बाप के यहां जन्मी इसी से क्या उनको भी मेरे किये का दण्ड भोगना होगा ? मैं यह नहीं होने दूंगी। इस उमर में उनकी इज्जत पर बट्टा लगे,इससे पहले मुझे लाख-लाख बार मरना मंजूर है।"

"तो फिर ऐसी हिम्मत से मेरठ के लिए मेरे साथ चल क्यों पड़ी थी ?"

"सोचती थी, कोई जानेगा नहीं। और उन्हें अपना मुंह दिखा कर और अंतिम बार उनके दर्शन करके पीछे जो बने मैं अपना निपटारा कर लेना चाहती थी। उसके बाद जीती भी बचती तो उनका रास्ता न काटती। पर मेरा नसीब जो फूटा है। रास्ते में आपने ही सब जान लिया। अब आगे मुझसे पैर कैसे दिया जायगा ?"

माताप्रसाद सुनते हुए बराबर कमरे में टहलते ही रहे। एकाएक गुस्से में बोले—"यह कब से चल रहा था ?"

पुष्पा ने उधर ध्यान नहीं दिया। कहती रही—"शायद सब भले के लिए होता है। इन थोड़े दिनों में जो मैंने जाना वह किसी भी दूसरी तरह नहीं जान सकती थी। अब मुझे कोई भी साध नहीं है। मैं सहज-भाव से मर सकती हूं। गुस्सा भी मुझे नहीं है। दोष भी किसी को कैसे दे सकती हूं। उसका भी कैसे बुरा चाह सकती हूं जो लाचार है, और अब नहीं लिया सकता। मैं मां-बाप के समक्ष जाकर चरण छूकर मन-ही-मन उनकी क्षमा पा लेना चाहती थी। पर अब वह नहीं हो सकता तो भाग्य को भी दोष नहीं दूंगी। विपत न पड़े तो आंखें हमारी कैसे खुलें ? मैं पढ़ती थी और जानती थी कि पाप कहीं भी नहीं है। लेकिन अब जाना कि हम जैसों को पाप न हो तो प्राप्त भी कुछ न हो। आज

तो मैं पाप में विश्वास रखती हूं। उसने मुझे सिखाया। वह किसी तरह भी ग्रंथोंसे मुझे न आता। दुःख मेंसे सांत्वना मिलती है। पाप में से धर्म मिलता है। यह भी शायद ठीक हुआ न कि आप आज आगए। मरना केवल मैं इसीलिए चाहती हूं कि जिन्हें मुझसे प्यार था और आशा थी उन्हें मुझसे ग्लानि और निराशा का दुःख न मिले, मैं—"

माताप्रसाद अपने से झगड़ते हुए टहले जा रहे थे। आधा उन्हें सुन पड़ता था आधा नहीं सुन पड़ता था। पर समझकर सुनने या सुन कर समझने की उन्हें चिंता न थी। सहसा घूमकर बोले—"क्या बकती हो?"

पुष्पा बोली—"माता-पिता से आप कुछ भी कहानी कह दीजिए। पर आप विश्वास मानिए कि कोई अभाव-अभियोग लेकर मैं नहीं जाऊंगी।"

जैसे कुछ न सुना हो, जोर से बोले—"कहां जाने की बात कर रही हो?"

पुष्पा को मानो उन पर करुणा हुई, बोली—"कहीं भी नहीं।"

"क्यों, मरोगी?"

पुष्पा उनकी ओर देखती रह गई।

बोले—"मरना बुरा नहीं है। इससे पहले ही मर जाती तो अच्छा होता।"

पुष्पा इस समय सचमुच इन स्नेही वृद्ध-जन के प्रति दयार्द्र हो आई। वह बोली नहीं।

माताप्रसाद कहते रहे—"आज की औलाद को जाने क्या हो गया है? मां-बाप उनके लिए जीते हैं, उनके लिए पिसते, कमाते और इज्जत बनाते हैं। लेकिन ये हैं कि—अरे, मरना था तो मर क्यों नहीं गई?"

पुष्पा देख सकी कि इनका दुःख किसी भी तरह उसके निज के दुःख से कम नहीं है। बल्कि वह कुछ अधिक ही कष्टकर है, क्योंकि

मृत्यु में उसका उपाय नहीं है। मैं तो मरने की सोचकर छुटकारा पा जाती हूं, इनको वह राह भी नहीं है। इसलिए डबडबाई आंखों से वह उन्हें देखती रह गई। उत्तर में कुछ कहने की हिम्मत उसे न हुई। माताप्रसाद मानो चीखकर बोले—"नहीं मर सकी तो तुम उस लायक नहीं हो। अब वह बात न करना। चलो, मेरठ चलो।"

"मेरठ?"

"हाँ! तुम्हारे माता-पिता ही वहाँ नहीं रहते और बहुत रहते हैं।"

पुष्पा कृतज्ञ आश्चर्य से क्षण-भर उन्हें ताकती रही। फिर बोलना चाहा—

लेकिन तभी मानो डपटकर माताप्रसाद ने कहा—"बस हुआ, अब सोओ। मालूम है क्या बजा है? दो होगा।......सवेरे चलना भी है। सुना नहीं........बिस्तर खोलो और सो जाओ।"

पुष्पा सुनकर वहीं बैठी रह गई और माताप्रसाद कह कर स्वयं टहलने लग गए। एकाएक मुड़कर उसे वहीं बैठा देखकर डांटकर बोले—"सुना नहीं? क्या तुम बहरी हो? बिस्तर खोलो और सो जाओ।" तत्काल पुष्पा को उठता हुआ न देखकर कड़ककर कहा—"उठो।"

जैसे वज्र कड़क गया। पुष्पा को न चेत रहा कि वह बीस वर्ष की है। मानो पांच बरस की ही वह अब भी हो। खुद में कुछ न हो। आदेश-पालन के लिए बस पात्र हो। उस आवाज पर एक दम सहम कर वह, जैसा कहा, करने लगी।

सोफा पर बिस्तर बिछा लिया और लेट गई।

माताप्रसाद बिना उधर ध्यान किये टहलते रहे। सहसा रुककर बोले, "पुष्पा अपने दिलीप को तो तू जानती है न? पी० सी० एस० में आ गया है। उसकी सगाई मैं तोड़ सकता हूँ। क्यों, सो गई?"

पुष्पा आंख फाड़े छत देख रही थी। बहुत भीतर की तह फोड़कर उसकी आंखों में आंसू भरे आ रहे थे। पर वह बोली नहीं। इस तरह पड़े-पड़े जाने पुष्पा को कब नींद आ गई। सबेरे जागी, तो आराम कुर्सी पर माताप्रसाद भी सो रहे थे।

आठ

चोर

घर में आठ बरस का प्रद्युम्न बड़ा ऊधमी है। किसीकी नहीं सुनता और ज़िद पर आजाय, तो पूछिए ही क्या। इधर कुछ दिनों से वह कुछ गुमसुम रहता है। ऊधम-दंगा भी कम हो गया है। जाने क्या बात उस के मन में बैठ गई है। शाम को स्कूल से आता है, तो दौड़कर खेलने बाहर नहीं चला जाता, इस-उस कमरे में ही दिखाई देता है। मैं परेशान हूँ। कहती हूँ—"क्या हुआ है प्रद्युम्न?" तो सिर हिलाकर कह देता है—"कुछ भी नहीं।"

"तो खेलने क्यों नहीं गया?"

"योंही नहीं गया।"

मैं समझती हूँ कि रूठा है। तब गोद में लेकर प्यार करती हूँ। पर वह बात भी नहीं है। अब सबकी अपनी-अपनी जगह शोभा है। बालक में बुद्धिमानी अच्छी नहीं लगती। उसमें बचपन चाहिए। पर प्रद्युम्न जो आठ वर्ष की उम्र में बुजुर्ग बन रहा है, सो मैं कैसे देखती रह जाऊं? डपटकर कहा—"जाता क्यों नहीं खेलने? साथी बच्चों में मन ही बहलेगा।"

डपटती हूँ, तो वह सचमुच चला जाता है। मैं डरती हूँ कि घरके बाहर इधर-ही-उधर तो वह नहीं भटक रहा है। पर नहीं, वह सीधा साथियोंमें जाता है और खेलकर काफ़ी देरमें लौटता है। एक बात देखती हूँ। शाम को निबटकर हम चार जनीं बैठकर बात करती हैं, तो वह भी पास बैठा हुआ दिखाई देता है। वह कुछ नहीं बोलता, चुपचाप सुनता रहता है। मुझसे सटकर भी नहीं बैठता और न कभी गोदमें लेटनेकी ही चेष्टा

करता है। अपने अलग-अलग गुमसुम बैठा रहता है।

आजकल दिन बड़े खराब हैं। गेहूँ ढाई सेर का भी मयस्सर नहीं है। दूध के दाम घोसी ने परसों से आठ आने सेर कर दिए हैं। शाक-भाजी के बारे में छै आने से कम की बात ही नहीं कीजिए। लौकी और कद्दू दोनों उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं;पर अब उन्हींके हुक्म से वही बनाती हूँ, क्योंकि वे चार आने में जो आ जाते हैं। शहरियोंकी मुसीबत, बहन कुछ न पूछो। मकान, किराया है कि दम खुश्क करता है। ४०) दे रही हूँ; पर मैं ही जानती हूँ कि कैसे गुज़र होती है। मेहमान आए, तो बैठाने को जगह नहीं। यह मुई लड़ाई जाने कब बन्द होगी! आपस में हमारी ऐसी ही बातें हुआ करती हैं।

सावित्री ने कहा—"अरे जी, तुमने सुना, कल हमारे पड़ोस में एक का ताला टूट गया।"

गिरजा बोली—"यह न होगा, तो क्या होगा? कुछ नुकसान तो नहीं हुआ?"

सावित्री ने कहा—"यही खैर हुई। चौकीदार की लाठी की ठक-ठक सुनकर, कहते हैं, चोर भाग गया।"

सज्जमाला बोली—"मैंने तो लोहे के किवाड़ लगाने को कह दिया है। देखो न, उस रोज़ उनके यहाँ से कपड़े-जेवर सब चला गया। और तो और बर्तन तक ले गए।"

यह समाचार पुराना पड़ गया था; पर आज इस मौक़े पर वह फिर नया हो आया।

दुलारी बोली—"दूर क्यों जाओ, रात की बात मुमानीजी से ही न पूछो कि रह-रहकर कैसा खटका होता रहा और सवेरे देखते हैं, तो साफ़ निशान हैं कि किसी ने कुण्डे पर हाथ आजमाया है।"

मुमानी इस मण्डली में कुछ नई हैं। शायद वजह यह भी हो कि वह अकेली मुसलमान हैं। लेकिन उनके कुण्डे की बात आई, तो उत्साह

से उन्होंने पूरा बखान किया—"नवाब साहब आये न थे। दो का वक्त था। ए० आर० पी० के काम में उन्हें अक्सर देर हो जाती है। अब घर में हम सब जनीं अकेली। मर्द कोई भी नहीं। बहन, कुछ पूछो नहीं। खट-खट सुन रही हैं; पर कुछ करते नहीं बनता। आपस में घुस-फुस कर के रह जाती हैं और सबके धुकधुकी हो रही है। मैंने तो सवेरे ही कह दिया—या तो नौ बजे आ जाओ, नहीं तो मकान तब्दील करो। खुदा जाने, मैं तो नौ बजे किवाड़ बन्द कर लिया करूंगी। मेरी बलासे फिर वे कहीं रहें। सोएँ वहीं जाके अपने ए० आर० पी० में। खुदा क़सम बहन, देर तक छत पर से कई क़दमों के चलने की आहट आती रही। यह चोर...।"

जैनमती बोली—"क्यों, बशीरमियाँ घर में नहीं थे क्या ?"

मुमानीजान ने कहा—"उनकी भली चलाई। नई शादी हुई है, तो उन्हें क्या होश है ? दोनों को अपना कमरा है और बस। बाक़ी उनकी तरफ़ से सब-कुछ क्यों न लुट जाय। अब सच तो यह है बहन कि चोर का हौल मुझे भी था। इसीसे बोल नहीं रही थी, चुप थी।"

रूपवती बोली—"औरों की बात तो नहीं कहती, नीम पर चढ़कर इनके घर तो मैं कहो जब पहुंच जाऊं।"

सब जनीं इस पर बहुत खुश हुईं और कहने लगीं कि यह बात पते की है। मेरे मनमें खुद इस कटे नीम की बात कई बार आई थी। सोचती थी कि म्यूनिसिपलिटी में लिखकर कटवा दूँ। इस मरे पेड़ को भी यहीं होना था। मैंने जैनमती की तरफ़ देखकर कहा—"जीजी, बताओ क्या करूँ ? पेड़ है तो बड़े बेमौके, कोई चढ़कर आ सकता है। हमारा दिलीप ही रोज़ यहां से सड़क पर उतर जाता है। कहती हूँ, मानता ही नहीं।"

जीजी ने कहा—"तो उनसे कहा ?"

मैं बोली—"उनसे जब कहा, तो उन्होंने कौन-सा काम करके रखा। बोले—'नीमके पेड़से ठण्डी हवा आती है।' मैंने कहा—'चोर जो आ

सकता है ?' बोले—'ज़रूर आ सकता है, इससे किवाड़ खुले रखा करो और वक्त-बे-वक्त के लिए दो-चार रोटियां भी बचा रखा करो। आए कोई,तो उसे खाने को तो मिल जाय। चोर बेचारा भूखा होता है।' तब से जीजी, मैंने तो कान पकड़ा, जो कुछ कहूँ। सीधी की वह तो उलटी लगाते हैं। जेठजी से कहना, वह कुछ इन्तज़ाम करदें, तो मुझे कल पड़ जाय। हर वक्त दिल धुक-धुक करता रहता है। बात यहाँ कर रही हूं और मन...। क्या बजा होगा ?"

"नौ बज गया।"

मैं घबराकर बोली—"नौ !" सब जनीं मेरा तमाशा देखने लगीं। मैंने कहा—"मुझे जाने दो। चल प्रद्युम्न, चलें।"

प्रद्युम्न पीछे को एक तरफ बैठा था। औरों के साथ के बच्चे सब सो गए थे। प्रद्युम्न बिलकुल नहीं सोया था। इस वक्त भी जैसे वह यहां से उठना नहीं चाहता था।

सब्ज़माला ने उठती-उठती का हाथ पकड़कर मुझे बैठाल लिया और कहा—"लाला आ तो गए हैं...।"

मैं और भी घबराकर बोली—"आ गए हैं ?"

सब्ज़माला ने कहा—"वह देख, कमरे में बत्ती जल रही है।" यह कहकर उसने मुझे अंक में भरकर चूम लिया। इस सहेली की मैं यहाँ बात नहीं कर सकती। वह मुझ पर ज़बर्दस्ती करती है; लेकिन इस ज़बर्दस्ती से ही मैं उसकी होगई हूं। बोली—"लाला थोड़ी देर अकेले रह लेंगे, तो क्या होजायगा ? तुझे छोड़कर खुद जो महीनों बाहर रहते हैं।"

मैंने कहा—"उन्होंने खाना नहीं खाया, जीजी ! मुझे जाने दो।"

"आप ले के खालेंगे।" कहते हुए उसने मुझे जबरन बैठा लिया।

प्रद्युम्न अपनी जगह बराबर ध्यान लगाए बैठा था। खैर, मेरे बैठ जाने पर चोरी से हटकर चोरों की बात होने लगी। वे निर्दयी होते हैं, चालाक होते हैं, पास में कुछ-न-कुछ हथियार रखते हैं। इसी तरह

बात आगे बढ़कर डाकू, जेलखाना, कालापानी, और फाँसी तक पहुँची। घड़ी ने दस बजाए, तब जाकर मेरा छुटकारा हुआ। और जनीं भी तब अपने घर गईं। प्रद्युम्न उँगली पकड़े मेरे साथ आ गया।

प्रद्युम्नके बाबूजी लेटे हुए किताब पढ़ रहे थे। कहा—"पता है,अब क्या बजा है ?"

मैंने टालते हुए कहा—"खाना खा लिया ?"

"खा लिया।"

वे नाराज़ थे। हों तो हों। मैं भी प्रद्युम्नको लिटाकर उसके बराबर लेट गई। उनसे बोली नहीं। वे भी किताब पढ़ते रहे। मुझे नींद नहीं आई थी; पर आँख बन्द किए लेटी थी। ऐसे समय प्रद्युम्न मेरी खाट से उठा और अपने बाबूजी के पास जाकर बोला—"बाबूजी !"

चौंककर उन्होंने मुंह फेरा। प्रद्युम्न को पास खड़ा देखकर कहा—"आओ, प्रद्युम्न, मेरे पास सोओगे ?" बच्चा पास बैठ तो गया, लेटा नहीं। "क्यों, बैठे क्यों हो ? सो जाओ।"

प्रद्युम्न ने कहा—"चोर रोशनी में नहीं आता, बाबूजी ?"

उसके बाबूजी ने कहा—"नहीं, रोशनी में कोई चोर नहीं आता। और भाई, चोर भला कोई होता भी है ? सो जाओ।"

लेकिन प्रद्युम्न नहीं सोया। थोड़ी देर बाद उसने पूछा—"अँधेरे में आता है ?"

उसके बाबूजी ने कहा—"क्या बकते हो, सो जाओ।" और उसे ज़बर्दस्ती लिटा दिया और अपनी किताब खोलकर पढ़ने लगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने मुड़कर देखा होगा कि प्रद्युम्न अब भी आँख फाड़े ऊपर देख रहा है, सोया नहीं है;क्योंकि तभी मैंने सुना कि उन्होंने कहा—"अरे, अभी सोए नहीं तुम ?" कहकर उन्होंने किताब अलग रख दी और बटन दबा दिया। फिर प्रद्युम्न को छाती के पास खींचकर थपका-थपकाकर सुलाने लगे। ऐसे उन्हें थोड़ी देर में नींद आ गई। मैं नहीं सोई थी।

इतने में देखती क्या हूं कि अँधेरे में टटोल-टटोलकर प्रद्युम्न मेरी खाट पर आ गया।

मैंने उसे अपनेमें खींचकर फुसफुसाकर कहा—"बेटे, सो जाओ।" वह मेरे अंक में लगकर सोनेकी चेष्टा करने लगा। मैं थोड़ी-थोड़ी देर में उसके पपोटे देखती थी कि सो तो गया है न? मैंने कहा—"क्यों प्रद्युम्न, नींद नहीं आती? क्या बात है।"

कुछ देर साँस बांधकर वह लेटा रहा। अन्त में वह रोक नहीं सका, एकाएक बोला—"भाभी, चोर कैसा होता है?"

मैं सुनकर हैरत में रह गई। मैंने कहा—"अरे, वह सचमुच में कुछ थोड़े ही होता है। वह तो झूठ-मूठ की बात है।"

"तो वह नहीं होता?"

मैंने कहा—"बिल्कुल नहीं होता।" सुनकर वह चुप रह गया। मैंने कहा—"सो जाओ, भैया!"

उसने ज़ोर से कहा—"होता है।"

मैं हँसकर बोली—"तो बताओ, कैसा होता है?"

बोला—"मेरी किताब में राक्षस की तस्वीर है, वैसा होता है। दो सींग, गदहेके-से कान और लम्बी जीभ।"

मैंने कहा—"हटो, कोई चोर-वोर नहीं होता। किताब में तो योंही तस्वीरें बनी होती हैं। लो, अब सो जाओ।" कहकर मैं उसे थपथपाने लगी और कुछ देर में वह सो गया।

इस बात को आठ-दस रोज़ होगए। प्रद्युम्न की हालत पहले से ठीक है। मैंने सबसे कह दिया है कि प्रद्युम्न के सामने चोर की बात बिल्कुल मुँह से न निकालें। सब इस बात का ध्यान रखती हैं। और मालूम होता है कि चोर प्रद्युम्न के सिर से भी उतरकर भाग-भूल गया है।

दिलीप हमारा भतीजा है और साथ ही रहता है। वह एफ़० ए०में

पढ़ता है। कालेज दो मील होगा, साइकिल से आता-जाता है। प्रद्युम्न अपने कई साथियों के साथ स्कूल से लौटा था। आते ही बस्ता फेंक उन के साथ भाग जाना चाहता था। मैंने जैसे-तैसे उसे रोका और फल-मिठाई उसे खिलाने लगी। कहा—"सवेरे से गया, तुझे भूख नहीं लगी, प्रद्युम्न ?"

खाने तो वह लगा; पर मन उसका दोस्तों में था। इतने में आया दिलीप। बोला—"चाची, एक चोर पकड़ा गया है, चोर। बाहर गली में सिपाही उसे ले जारहे थे। सच्ची, चाची !"

मैंने अनायास कहा—"कहाँ रे ?"

दिलीप कापी-किताब फेंकते हुए बोला—"यह बाहर ही तो, गली के बाहर।"

"तो चलो, होगा—लें, अरे, खाता क्यों नहीं ?"

लेकिन प्रद्युम्न का मुँह रुक गया था। बरफी का पहला टुकड़ा भी नीचे नहीं उतरा था। वह भूला-सा सामने देखता रह गया था।

"ले खाता क्यों नहीं ? खाकर कहीं जाना।"

परन्तु प्रद्युम्न कुछ देर उसी तरह खोया-सा रहा; फिर एकदम उठ कर वहाँ से भाग छूटा। मैंने तब दिलीप से कहा—"जा भय्या, देख तो, वह कहाँ जा रहा है ?"

दिलीप स्वयं ही जाना चाहता था। इससे वह भी लपककर भाग गया। आने पर देखा कि दिलीप जितना उल्लसित है, प्रद्युम्न उतना ही चिन्तित दीखता है। मैं दिलीप से पूछने-ताछने लगी और वह मुझे अपनी सुनी-सुनाई सब बताने लगा। प्रद्युम्न तब बराबर पास खड़ा था। सहसा बीच में वह बोला—"चोर आदमी होता है, मां ? और नहीं होता ?"

मैंने कहा—"हाँ बेटा, आदमी ही होता है।"

"राक्षस नहीं होता ?"

मैंने कहा—"नहीं भय्या, राक्षस नहीं होता।"

वह मेरी तरफ ताकता हुआ देखता रह गया, बोला—"राक्षस नहीं होता—बिल्कुल राक्षस नहीं होता ? तो फिर क्या बात है, अम्मा ? अब से किवाड़ बन्द मत किया करो।"

मैंने तो सुनके माथा ठोक लिया, बहन ! सोचा कि इस ज़रा-से में भी तो बाप के लच्छन आगए !

नौ

पूर्व-वृत्त

अदालत में आज बड़ी भीड़ है। अखबारों में इसकी खूब चर्चा है। मामला यह है कि प्रशान्त का कहना है कि शान्ति उसकी विवाहिता है। और शान्ति का दावा है कि यह सब उसके पिता से पैसा ऐंठने का उपाय है। उसने अख़बार में यह छपाकर कि मेरा उससे विवाह हुआ है, मुझे बदनाम करने की कोशिश की।

दावा शान्ति की ओर से है। प्रशान्त के साथ दूसरा अभियुक्त अख़बार का सम्पादक है जिसने यह ख़बर छापी है।

सम्पादक ने कहा कि प्रशान्त नें खुद उसको रिपोर्ट दी थी। प्रशान्त को मैं तीन वर्ष से जानता हूँ। कोई वजह नहीं कि मैं उसकी रिपोर्ट झूठ समझता। वह मौतबिर आदमी है, ग्रेजूएट है, और मेरे अख़बार में अक्सर लेख-कविताएँ लिखता है। मैं निजी बातें अक्सर नहीं छापता, लेकिन मुझे बताया गया कि लड़की के पिता जबरन उसकी शादी करना चाहते हैं। जब्र नामुनासिब है। ऐसी अनीति को रोकने के लिए अख़-बार न हो तो क्या हो ? इस खयाल से मैंने खबर छापी थी। उस वक्त मैं वैसा करना सही और मुनासिब मानता था। लेकिन अगर वह बात ग़लत है और मुद्दई को सदमा पहुंचा है, तो मुझे उस पर अफ़सोस है।

प्रशान्त ने अदालत में पत्र पेश किये। कहा कि मैं अध्यापक हूँ। मेरी संस्था थी और उसमें ये पढ़ने आया करती थी। पढ़ने से अधिक पढ़ाने आया करती थी। नहीं, वेतन नहीं लेती थी। फीस हां देती थी। उसका मुझसे प्रेम हुआ।

शान्ति ने इस पर अपने स्थान से कुछ कहा, जिसे ठीक तरह नहीं सुना जा सका।

उस पर प्रशान्त कुछ उत्तर देने को था। लेकिन अदालत ने सब को चुप किया। और प्रशान्त को अपना बयान जारी रखने को कहा।

प्रशान्त ने कहा—मैं प्रेम के लिए अपने को दोष नहीं दे सकता। उसका यह कहना कठिन है। मेरी अवस्था ३५ वर्ष है। पत्नी है, बारह वर्ष की एक कन्या है। अदालत में जो पत्र है, लड़की ने स्वयं लिखे हैं।

पूछा गया, "उनसे तुम क्या सिद्ध करना चाहते हो?"

"प्रेम नहीं, विवाह साबित करना है।"

उत्तर में उसने कहा, "उन पत्रों से मेरे प्रति उसकी भावना का पता चल सकता है।"

आगे प्रशान्त ने अपना बयान जारी रखते हुए कहा—प्रेम एक छल हो सकता है। मैं इतना युवक नहीं हूँ कि इस बात को न समझूँ। फिर भी मैं उसका निरादर नहीं कर सकता। मेरा विवाहित जीवन सुन्दर नहीं है। आरंभ शायद हममें सहानुभूति से हुआ, मैंने अपनी घर की हालत बतलाई। अपने स्वप्न बतलाये। मैंने कहा कि मुझको समझने वाला जीवन-संगी कोई होता तो मैं कितनी न उन्नति करता। सहानुभूति की माँग जीवन में स्वाभाविक है। युवावस्था में सहानुभूति सुलभ भी है। वही शायद सघन होकर प्रेम में परिणत हो गई। पत्रों में आप देख सकते हैं कि प्रेम के स्थायी होने की शपथें हैं। मैंने सुझाया कि प्रेम स्वयं पवित्र है। पर विवाहसे वह व्रत होजाता है। वह विवाहके लिए भी राज़ी हुई। लेकिन उसने कहा कि माता-पिता इसमें साथ नहीं देंगे, क्या हममें प्रेम ही काफी नहीं है? और मन में तब वह माता-पिता और समाज से डर रही थी। मैंने कहा कि भय उचित नहीं और विवाह होना ज़रूरी है। मैं विवाह को अंतिम तो नहीं मानता, पर मन की रोकथाम के लिए एक मर्यादा अच्छी है। व्यवस्था में भी उससे सुभीता होता है। नहीं यह ग़लत है कि मेरी निगाह इसके पिता के पैसे

पर थी। समझौते के लिए उनकी ओर से पैसे की बात एक से अधिक बार आई। मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। खैर, मैं इस बात पर राज़ी हुआ कि विवाह विधिवत् हो, हम लोग एकान्त भगवान् को साक्षी कर एक-दूसरे का हाथ थाम लें। वैसा ही हुआ। हम अब सम्मिलित रहने का उपाय सोच रहे थे। लेकिन अचानक यह मामला आ गया है। मेरा विश्वास है कि लड़की अपनी ओर से कुछ नहीं कह रही है। सब माता-पिता के दबाव से किया जा रहा है। उसे इसके लिए मारा-पीटा तक गया है। मैं मानता हूँ कि अगर वह अपने मन की बात कह सके तो आप पायंगे कि मैंने अपने बयान में कोई अत्युक्ति नहीं की।

प्रशान्त के बयान के बीच-बीच में लोग ताना कसते और हँसते थे। और इस्तगासे के वकील की जिरह में प्रशान्त झेंपकर लाल पड़ आया। उसमें इस तरह के भी सवाल थे कि कैसे क्या तुम अपने को खूबसूरत नौजवान समझते हो ? क्या अमुक जगह से तुम्हें……इत्यादि।

इसके बाद सफाई के वकील ने शान्ति से पूछताछ की, उसने जो जवाब में कहा, यह है।

"मैं अभियुक्त को एक बरस से जानती हूँ। मेरी एक सहेली ने इसके स्कूल का पता दिया था। हाँ, यह मेरे हैं। यह प्रेम-पत्र नहीं हैं। प्रेम इनके लिए मुझमें नहीं हो सकता। जो विवाहकर एक से मुंह मोड़ लेता है, वह दूसरी से प्रेम निभायगा, इसका विश्वास नहीं है। मैं यह बात शुरू से जानती थी। इनकी संस्था में पढ़ती थी, इससे इन्हें नाखुश नहीं कर सकती थी। इसलिए यह पत्र लिखे गए हैं। सिरे से ही जब यह पत्र बनावटी हैं, तो उनमें खूब बढ़ी-चढ़ी भाषा लिखी गई हो तो उसमें अचरज क्या है ? विवाह की बात सरासर झूठ है। यह इसीसे ज़ाहिर है कि मैंने विवाह की हर विधि से इन्हें विमुख किया। भगवान् की साक्षी में आपस में हाथ पकड़ने की बात भी इनको बहलाने को हुई है। मुझे परीक्षा पास करनी थी। मेरा अब इनसे कोई वास्ता नहीं है। मैं इनसे नफ़रत करती हूँ।

पूर्ववृत्त

प्रशान्त ने अपनी जगह से चिल्लाकर कहा—"शान्ति, नफ़रत करती हो?"

इस पर कमरे में कुछ गड़बड़ी मची और अदालत ने व्यवस्था स्थापित की।

शान्ति ने बिना उस ओर ध्यान दिए कहना जारी रखा कि नफ़रत करना अच्छा नहीं है। यह मेरे मास्टर हैं। मैं समझती थी कि यह दुःखी हैं। कुछ अपने स्वार्थ से और कुछ दया से मैं इनका मन रखती रही। पर नहीं जानती थी कि यह इतने धूर्त निकलेंगे।

धूर्त शब्द पर सफ़ाई के वकील ने आपत्ति की। और एक दस्तावेज़ सामने किया। कहा—मेरा मुवक्किल इस बात को इस हद तक नहीं जाना चाहता था। यही उसकी नेकनीयती का सबूत है। लेकिन जैसा कि इस दस्तावेज़ से जाहिर होता है, शादी गवाहों के सामने बाकायदा की गई थी। मुवक्किल दस्तावेज़ को जानबूझकर इसलिए पीछे रखना चाहता था कि मुद्दई को सदमा न पहुँचे और बिना इसकी ज़रूरत पड़े, वह सब कबूल कर ले। धूर्त शब्द वापस लिया जाना चाहिए।

शान्ति ने कहा—यह दस्तावेज़ आ गया है तब तो मैं धूर्त शब्द को और भी वापस नहीं ले सकती। यह काम धूर्त ही कर सकते हैं।

लोगों ने इस बात में बहुत दिलचस्पी ली, यहाँ तक कि शोर मच आया। अदालत ने शान्ति स्थापित की। अनन्तर उस दस्तावेज़ को लेकर शान्ति से जिरह की गई। जिरह में शांति हटती-सी मालूम हुई। उसने पहले कहा कि उसके दस्तख़त बनावटी हैं। फिर कहा—हो सकता है किसी कोरे कागज़ पर उसने दस्तख़त किये हों। लेकिन पंडित के हाथ शादी होने की बात सच नहीं है। फिर, मन नहीं तो वह शादी क्या? यह धूर्तता है कि यह दस्तावेज़ सामने लाते हैं। इन्होंने वायदा किया था कि कभी इसका इस्तेमाल न होगा। कभी यह किसी को दिखाया न जायगा। दस्तख़त, हाँ, मेरे हैं, लेकिन यह आदमी कमीना है।

शान्ति इधर-उधर की कहने लगी थी। उस प्रलाप से साफ़ था कि दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर उसके हैं। और कागज़ से प्रमाणित था कि विधिवत पंडित ने दो साक्षियों के समक्ष इनका विवाह कराया है।

शान्ति ने कहा, "दस्तख़त होने पर भी, दस्तावेज़ झूठे हैं और मैं हरगिज़ इनके साथ नहीं रह सकती।"

सफ़ाई के वकील ने अपना सारा ज़ोर दस्तावेज़ पर डाल दिया और उसके सिलसिले में गवाहियों के लिए केस को अगली तारीख़ दी गई।

अदालत उठते समय शान्ति अस्थिर थी और प्रशान्त का मुंह नीचे झुका हुआ था। वह किसी ओर देख नहीं रहा था।

प्रशान्त ने बहुत चेष्टा की पर शन्ति से मिलना सम्भव न हुआ। न संदेश भेजा जा सका।

शान्ति अब मानो पहरे में रहती थी। बाहर लोगों में उसकी चर्चा थी, और पिता बहुत परेशान थे। प्रशान्त को समझाने या दबाने के सब प्रयत्न निष्फल जा चुके थे। अब वह भी सोच बैठे थे कि इज्जत तो गई ही;तो बात को बीचमें न छोड़ेंगे। राह न मिलने पर शान्ति को वह दो-एक बार पीट भी चके थे।

स्थानीय पत्रों की सहानुभूति शान्ति की ओर थी। पर बात का जग-ज़ाहिर होना उन्हें खलता था। तो भी उन्हें विचार होता था कि शायद इस प्रकार की ख्याति में से ही लड़की के भविष्य का कोई मार्ग निकल आए।

ऐसे ही समय एक सार्वजनिक पत्र के सम्पादक उनके पास आये। उन्होंने कहा कि वह उनकी कन्या की दृढ़ता से प्रभावित हैं। और उससे स्वयम् मिलकर वातावरण को साफ़ करने में मदद देना चाहते हैं। बहुत समझाया तो पिता मुलाक़ात के लिए राज़ी हो गए।

शान्ति विस्मय में हो आई, जब देखा कि सम्पादक के नाम पर

प्रशान्त के मित्र देवचन्द्र उसके सामने उपस्थित हैं। पर इसका आभास उसने किसी को नहीं दिया।

पिताने कहा—"आप पन्द्रह मिनट ही चाहते हैं न?" यह कहकर वह वहाँ से हट गए।

देवचन्द्रने कहा—"शान्ति, तुम्हारे मनकी बात पूछने प्रशान्त ने मुझे भेजा है।"

शान्ति ने कहा—"वह मेरी ख्वारी काफ़ी कर चुके, अभी और बाकी है?"

देवचन्द्र ने कहा—"शान्ति, उसने क्या किया है?"

शान्ति—"नहीं, सब मैंने ही किया है।"

"अब तुम क्या चाहती हो, शान्ति? प्रशान्त ने तुम्हारे मन की बात जानने को मुझे भेजा है। वही वह करेगा।"

शान्ति ने कहा—"मुझे क्या अब कहीं जीती रहने लायक उन्होंने छोड़ा है। उनको इतनी शर्म नहीं कि मैं दावाकर रही हूँ तो चुप हो रहें?"

देवचन्द्र ने कहा—"तुम चाहती हो कि दोषी बनकर वह चुपचाप जेल चला जाय? वह आप तो अदालत नहीं आया, घसीटा गया है। तो सफ़ाई भी न दे?"

शान्ति—"मेरे लिए वे जेल नहीं जा सकते?"

देवचन्द्र ने विस्मयसे कहा—"उसे जेल भेजकर तुम क्या पाओगी?"

शान्ति ने कहा—"तब सुभीता होगा और पिता मेरी शादी कर सकेंगे। बाहर रहकर वह यह न करने देंगे।"

"क्या कह रही हो शान्ति, क्या तुम यही चाहती हो?"

"हाँ, चाहती हूँ कि जो होनहार हो, वह मुझ पर से हो जाय। वह क्या इतना नहीं समझ सकते? मैंने पहले भी उन्हें समझाना चाहा। नहीं समझे तो अब अदालत की नौबत आ गई है। मैं अपने वश की नहीं हूँ। नारी-धर्म में स्वतन्त्र कुछ नहीं होता। पिता जब तक पति को सौंपे, कन्या तब तक उसकी। सुनते हो? कुछ और नहीं हो सकता, इससे अब

यही है कि मेरी ख़ैर चाहते हैं तो वह जेल चले जायँ।"

"शान्ति, लेकिन उसके साथ एक और बेगुनाह आदमी—"

शान्ति ने कहा—"उसका कुछ न बिगड़ेगा।"

देवचन्द्र ने घड़ी की ओर देखा। समय जा रहा था। उसने जेब में हाथ डाला पर शान्ति की आँखों में इनकार का इशारा देखकर वह हाथ उसने खींच लिया। वह समझता था कि कहीं अदृश्य से दो आँखें उन्हें देख रही हैं। उसने धीरे से कहा—"देखो, मैं मित्र की ओर से अंतिम बार तुमसे कह रहा हूँ। वह तुम्हें, तुम्हीं साफ़-साफ़ न कहो, तब तक नहीं छोड़ सकता। तुम्हारे बिना उसे सब सूना है। दूसरी बात यह कि जो तुम कहोगी, वही वह करेगा। तुम कह दो कि मन से उसे नहीं चाहती हो, दूसरा विवाह चाहती हो, तो वह आपत्ति न करेगा। वह जो कुछ कर रहा है, इस विश्वास पर कि तुम्हारा मन उसी की तरफ़ है, माता-पिता के दबाव से जाहिर में फिर कुछ भी करो—अगर ऐसा नहीं है तो कहने-भर की देर है कि—"

शान्ति—"मन की बात वृथा है। उन्हें कह देना कि मन पर दावा नहीं होता। और मेरी मानें तो अदालत की सज़ा ले लें और जाकर जेल में बैठें।"

देवचन्द्र ने कहा—"एक यही उपाय है?"

शान्ति ने कहा—"नहीं, दूसरा भी है। वह यह कि साबित कर दें कि मैं उनकी हूँ और अदालत के ज़ोर से माँ-बाप से मुझे छीन ले जायं। पहला सज्जन का है, दूसरा दुर्जन का। अब वह अपनी ओर देखकर चुन लें।"

देवचन्द्र ने कहा—"शान्ति, तुम जानती हो कि तुम्हारा सम्बन्ध......"

शान्तिने बीच ही में कहा—"उसी सम्बन्धके बलपर न उन्होंने मुझे व्यभिचारिणी प्रसिद्ध कर छोड़ा। मुझे मंजूर है। मेरी कुछ इज्जत बची है कि मैं कहीं रह सकूँ? तुम्हारे मित्र को शर्म तो नहीं आई कि पत्र

अदालत में पढ़वाते हैं। मेरी मानो तो उन्हें कह देना, मेरा होना था सो होगया, पर भला चाहें तो दंड से बचें नहीं।"

देवचन्द्र ने कहा—"शान्ति, अन्याय न करो। उसके दुख को तुम नहीं जानती। दुनिया उसके नाम को थूकती है। रोज़ी उसकी गई; अपने पराये हो गए। माँ तक ने छोड़ दिया। पत्नी तो उसकी थी कब? एक इसी आशा का उसे सहारा था कि तुम उसे मानती हो। पर जो तुम भी नहीं मानती तो उसके लिए सब ख़तम है।"

शान्ति ने क्रोध में कहा—"हाँ, मेरे पास कुछ नहीं है जो नष्ट नहीं हो गया। अब उन्हींसे पूछना कि क्या बचा है जिसे धूल में मिलाना और ज़रूरी है।"

देवचन्द्र कुछ कहना चाहते थे कि शान्ति ने संकेत किया। कोई आ रहा था। तब साधारण भाव से उन्होंने कहा—"तो विवाह के सम्बन्ध में आप माता-पिता को पूर्ण अधिकारी मानती हैं और उनकी बिना अनुमति विवाह को जायज नहीं मान सकतीं?"

"हाँ, यदि माता-पिता ऐसा चाहें तो कन्या को झुकना चाहिए।"

इतने में शान्ति के पिता वहाँ आये। और उन्होंने यह सुना, बोले, "आपने देख लिया न कि सब उसी आदमी की धूर्तता है।"

देवचन्द्र ने कुछ हाँ-न किया, उठकर उनका आभार माना और वहाँ से चले आए।

आकर प्रशान्त से सब कह सुनाया। प्रशान्त उस समय सोच में था। सुनकर और भी सोच में हो गया।

कुछ देर रुककर सहसा उसने कहा, "मैं पहेली सुलझा नहीं पाता हूँ, देवचन्द्र! तुम बता सकते हो, मैंने कहाँ भूल की?"

"नहीं, मैं नहीं बता सकता।"

"तो वह चाहती है, मैं सज़ा ले लूं—तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी राय? मेरी राय है कि तन से ऊपर तुम्हें मन की कीमत हो तो उसकी कही रखो।"

"वह चाहती है—"

"त्रास पाना और त्रास देना।"

प्रशान्त गम्भीर हो गया। बोला, "देवचन्द्र, मानता हूँ मैं कि युग बदल रहा है। मैंने विवाहपूर्वक ही प्रेम को जो स्वीकारना चाहा, उसीका न यह फल है? देवचन्द्र, वह लड़की एकदम प्रश्चली है।"

देवचन्द्र ने कहा, "मित्र, तुम्हारा मस्तक ठिकाने नहीं है।"

प्रशान्त ने उत्तेजित होकर कहा, "हाँ शायद नहीं है। पर यह नहीं सहा जा सकता कि एक के साथ सम्बन्ध होने पर स्त्री अपना धर्म न निबाहे। शान्ति के बारे में और भी यह नहीं सहा जा सकता। यह अनीति नहीं होने पायगी, देवचन्द्र। माता-पिता को क्या इतनी हया-शर्म नहीं है?"

देवचन्द्र ने कहा, "अब मैं समझा कि भूल कहाँ है? यही है कि दूसरे का न्याय तुम अपने हाथ में लेते हो। शान्ति के चरित्र की रक्षा के नीचे कहीं तुम अपनी ही कामना को तो नहीं चाहते हो? शायद यही है जिसने शान्ति को भड़का दिया है।"

प्रशान्त ने भँवें सिकोड़कर कहा, "क्या मतलब?" देवचन्द्र ने हँसकर कहा, "कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

प्रशान्त ने कहा "स्त्री के शील की हमारे यहाँ मर्यादा है। उसी पर हमारी संस्कृति और हमारे समाज का विधान खड़ा है। वही डिगेगा तो हमारे पास रह क्या जायगा? नहीं, वह न हो पायगा, देवचन्द्र!"

देवचन्द्र आँखें फाड़े प्रशान्त की ओर देखता रह गया। मित्र में संस्कृति के प्रति ऐसी उत्कटता समय-समय पर उठती उसने देखी है। लेकिन यह अवसर उसे अनुकूल मालूम हुआ। उसने कहा, "प्रशान्त, आज तुम्हें हो क्या रहा है? पत्नी रहते दूसरे से प्रणय और परिणय रचाते हो, तिस पर शील और मर्यादा की बात कहते हो। स्वार्थ को कहीं विवेक की भाषा पहनाकर तो बात नहीं कर रहे हो?"

प्रशान्त ने कहा—"शास्त्रों ने पुरुष को एकाधिक विवाह की अनुमति दी है।"

देवचन्द्र ने कहा—"शास्त्रों में जो खोजो, पाओगे। कामधेनु हैं, इसीसे वे शास्त्र हैं। पर शान्ति को तुम क्या समझते हो ?"

"क्या समझूं ? अब तो समझना होगा कि वह कुटिल है।"

देवचन्द्र ने कहा—"सुनो प्रशान्त, तुम मेरे सामने उसको कोई अपशब्द नहीं कह सकते। सुनते हो ?"

सुनकर प्रशांत देखता रह गया। कहा—"क्या ?"

कहने के बाद देवचन्द्र के देखते-देखते एक व्यंगपूर्ण मुस्कराहट से उसका चेहरा बिगड़ आया।

देवचन्द्र ने कहा—"तुम अपनी निराश कामना में से उसे ठीक देख सकते हो प्रशान्त ?"

प्रशान्त ने कहा—"तो भी कुछ-कुछ देख सकता हूँ।"

उस बात में भरे व्यंग पर विस्मय से देवचन्द्र पुकार उठा, "प्रशान्त।"

देवचन्द्र के मुख पर व्यथा देखकर प्रशान्त कुछ प्रकृतिस्थ हुआ और कहा, "तो मैं क्या करूँ, बताओ !"

देवचन्द्र ने कहा—"व्यतीत की ओर से भविष्य के प्रति दावा न जताओ। मैं होता तो उसकी मर्ज़ी में अपने को छोड़ देता। प्रेम मिला, वहां से त्रास भी उसी कृतार्थ भाव से लेता।"

प्रशांत ने भौंचक होकर कहा—"देवचन्द्र, सच कहो, तुम मेरे मित्र हो ?"

देवचन्द्रने कहा—"नहीं,यह मेरी बात मित्रता की नहीं, सत्यता की है। शान्ति परेशान है। एक तरफ़ माता-पिता उसे नहीं समझते, दूसरी तरफ़ तुम उसे समझना नहीं चाहते। दो पाटों के बीच उसकी जान क्यों पीस रहे हो ? माता-पिता के प्रति शांति उद्धत नहीं होना चाहती। तुम उसके त्रास को ले नहीं सकते। फिर बलिदान ही तो उपाय है। उसी

ओर वह चल रही है। यह बात समझ लोगे तो फिर रोष नहीं कर सकोगे।"

प्रशान्त मित्र की बात नहीं सुन रहा था। वह दूर चला गया था। बल्कि उसे देवचन्द्र का बोलना बुरा मालूम हो रहा था। शब्द उसे शोर मालूम होते थे। उसने कहा—"देवचन्द्र, तुम नहीं जानते, मुझे आठ दिन से नींद नहीं आई। रात-दिन वही एक बात घूमती रहती है। यह सच नहीं है कि मेरी तकलीफ़ शांति को नहीं मिलती, पर यह सच है कि वह भी कष्ट में है। तुम बहुत जानते हो, पर क्या तुमने सहा है? जो मैं सह रहा हूं, उसका सौवाँ हिस्सा भी सहा है?"

देवचन्द्र ने कहा—"कहना सहने का लक्षण नहीं है प्रशांत! लो, मैं चला।"

"देवचन्द्र, नाराज़ न होना। मेरा मन ठीक नहीं है। तो मेरी चिट्ठी उसने तुम्हारे सामने नहीं खोली? नहीं पढ़ी? देवचन्द्र, मुझे विश्वास दिला सकते हो कि तुम मेरे मित्र हो?"

देवचन्द्र ने कहा—"प्रशान्त, वृथा अपने को कष्ट न दो।"

प्रशान्त ने कहा—"सुनो देवचन्द्र, मैंने सब तुम्हें नहीं बताया है। नौकरी गई ही। २०००) रुपये मैं माँ का बक्स तोड़कर चुरा लाया हूं। करीब २०००) स्त्री के ज़ेवर बेचकर बना लिये हैं। इतना ही सूद पर कर्ज़ मिल गया है। यह सब मुकद्दमे के लिए। मेरे लिए यह जान की बाजी है। लेकिन देवचन्द्र, मन अब बैठ रहा है। मेरा यह विश्वास छिन रहा है कि वह मुझे चाहती है। तब सब फिज़ूल है। मन का दुख क्या दूसरे के मन की चोट से भरेगा? आदमी, देवचन्द्र ऐसा ही करता है। दुख को दुख पहुँचा कर धोना चाहता है। रोज़ सोच रहा हूँ, देवचन्द्र! देख रहा हूं कि यह आदमी का धोखा है। मेरी चिट्ठी का जवाब मिल जाता तो सब तय हो जाता। वह मन की बात सीधी मुझसे कहती क्यों नहीं? जैसे मैं पराया हूँ। जैसे मैं सब-कुछ नहीं देखता। देवचन्द्र, मेरी कसक यही है।

देवचन्द्र सुनता हुआ चुप रह गया। उसके मन में शांति की मूर्ति घूम आई। पर उसे लगा कि वह इस प्रशान्त के अतिरिक्त किसी की नहीं हो सकेगी। प्रशान्त यदि सब सहेगा तो शान्ति कहीं रहे, उसीकी होकर रहेगी।

देवचन्द्र के जाने के बाद डाक से प्रशान्त को अपने पत्र का उत्तर मिला। लिखा था—

प्रिय,

मैं बहुत नाराज़ हूं। अपनी रखो तो तुम्हें कसम है जो कुछ बाकी छोड़ो। मैं भी देखती हूं तब तुम क्या कर लोगे। मेरी रख सको तो अदालत में झूठ बोलकर मुझे और मेरे कुल को बचाना तुम्हारा धर्म है।

तुम्हारी—

शान्ति

अगली पेशी के दिन अदालत में सनसनी फैल गई, जब प्रशान्त ने कहा कि वह अपना अपराध स्वीकार करता है।

प्रशान्त ने शान्त भाव से कहना जारी रखा—"मैं स्वीकार करता हूं कि मैंने झूठ ख़बर अख़बार में छपवाई। सम्पादक का दोष नहीं, क्योंकि मैंने कहा ख़बर सच्ची है और मैंने ज़ोर दिया कि इसे छापना सार्वजनिक हित होगा। मेरे मन में मुद्दई को तंग करने, बदनाम करने और मुमकिन हो तो इस तरह उसके बाप से रुपया वसूल करने की नीयत थी। मेरा पहला बयान सच न था। और दस्तावेज़ भी बनावटी है। पानी—"

गिलास से पानी पीकर कहा—"मुझे दुख है कि मेरे कारण एक सम्भ्रान्त कुमारी की बदनामी हुई और जिस सज़ा के लायक मुझे समझा जाय, मैं तैयार हूं।"

शान्ति अपनी जगह कुर्सी पर बैठी थी। वह अपने पैर के अंगूठे से खुरचे जाते फ़र्श को देख रही थी। वहां से हिली न जुली। सबसे बचकर पल-भर उसने प्रशान्त की ओर विस्मय से देख लिया था फिर झट

निगाह नीची कर वह अपनी हथेली पर देखने लगी थी।

इस स्वीकारोक्ति के बाद केस के रुख़ को संभाला न जा सका और प्रशान्त को छः महीने की सख़्त सज़ा हुई।

काँटा टला, पर शान्ति का विवाह सुगमता से न हुआ। अन्त में विज्ञापन दिया। शान्ति ने अपने सम्बन्ध के संबन्ध में कुछ भी जानने से इनकार कर दिया। उसने कह दिया कि वह पूरी तरह माता-पिता के हाथ में है। अंत में एक जगह रिश्ता पक्का करके तैयारियाँ शुरू हुईं। तिथि बहुत निकट आगई तब शांति ने अपने माता-पिता से कहा—"प्रशान्त की बात सच थी। और मेरा विवाह हो चुका है।"

पिता ने कह दिया—"वह विवाह न था।" और तैयारियाँ जारी रक्खीं। और कहा, "तू अगर गड़बड़ करेगी तो मैं संखिया खा लूंगा।" माता ने लड़की का पक्ष लेकर पिता को समझाया तो उन्होंने पत्नी को भी भला-बुरा सुनाकर कहा, "यह विवाह न हुआ तो मैं संखिया खा लूंगा, जो कहीं तुम कुछ और सोचती हो।"

तब शान्ति ने माता के द्वारा अपने भावी वर को लिखा कि मैं कुमारी नहीं हूँ और मेरा विवाह हो चुका है, आप मुझ पर दया कर सकते हैं। पर उसका विशेष फल दिखाई नहीं दिया।

अंत में भवितव्य हुआ और विवाह सम्पन्न हो गया। विबाह के एक सप्ताह अनन्तर जेल से प्रशान्त आया।

देवचंद्र जेलके द्वार पर ही प्रशान्त को मिला, कहा—"लो प्रशान्त, मेरी प्रतिज्ञा भंग हुई और तुम झूठे हो। मेरे पास जिन्दा सबूत है कि तुम्हारा दस्तावेज़ सच था। बड़े मूर्ख हो। जेल तुम क्यों गये? मेरी प्रतिज्ञा तुड़वाने? ख़ैर छोड़ो, यह कहो, मेरे साथ घर चल रहे हो न?"

प्रशान्त सबसे बचना चाहता था। अधिक ठीक कहें तो सबको अपने से बचाना चाहता था। देवचंद्र को अनायास भाव से मिलते

देखकर उसे कुछ अचरज भी था। उसने कहा—"नहीं, मैं नहीं चल सकूंगा।"

देवचंद्र ने यह उत्तर नहीं लिया और हठात् प्रशान्त को साथ चलना पड़ा।

कुछ जलपान और बातचीत के अनन्तर नववधू ने आकर प्रशान्त के पैर छुए और प्रशान्त ने आशीर्वाद दिया। मुख पर कुछ घूँघट था, और प्रशान्त की दृष्टि अन्यत्र थी किन्तु जब देखा कि वह शांति है, तब भी उसे विस्मय नहीं हुआ।

इस अविस्मित तटस्थ,दूरान्त दृष्टि पर टूटकर शान्ति प्रशान्तके चरणों में सिर डालकर फूट उठी। कहा—"क्या अब मुझे नरक में ही रखोगे, क्षमा नहीं करोगे?"

प्रशान्त ने इस पर नववधू के मस्तक पर हाथ रखकर उसे अखंड सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर प्रशान्त लगभग दो वर्ष अपनी पूर्व-पत्नी के साथ गृहस्थ में रहा, फिर उसने सन्यास ले लिया।

महाप्रभु स्वामी शान्तानन्द का यही पूर्ववृत्त है।

दस

परावर्तन

: १ :

दिल्ली, ८ अक्तूबर

प्रिय,

साथ का पत्र मैंने खोल लिया था, क्षमा करना । क्या भाई से कुछ कहा-सुनी होगई । नहीं तो धर्मशाला में क्यों रहती हो ? ज्ञान की पढ़ाई में हर्ज़ न हो रहा होगा ? उसके लिए मैं व्यवस्था कर रहा हूँ । क्या उसका भी मेरे साथ न रहना ज़रूरी है। खैर, जो भी तुम सोचो । लेकिन अब भी हर तरह की बात मुझसे कह सकती हो। और मैं तुम्हारा हूँ ।

—कृपादयाल

पुनः—

मालती को न आने के लिए ही न लिखोगी ?

कृ०

: २ :

लाहौर

२ अक्तूबर

मेरी प्यारी सखी शीला,

तुम तो मुझे भूल ही गईं । घर में जो दस काम हैं । लेकिन सच-सच यह क्यों नहीं कहतीं कि हमारे भाई साहब से ही तुम्हें फुर्सत नहीं मिलती। सुनती हूँ अब तुम लोग अपने नए मकान में आ गए हो। इनकी एक महीने की छुट्टी हो रही है। बड़ी मुश्किल से राज़ी हुए हैं

कि चलो प्रयाग काशी हो आयें । अगर सब ठीक रहा तो महीने के आख़िर में हम तुम्हारे यहाँ आयंगे, दिल्ली दिखाओगी न ? दो रोज़ से ज़्यादा का वक्त नहीं मिलेगा। पत्र का जवाब ज़रूर देना । भाई साहब से फ़ुर्सत न हो तो निकाल लेना । ऐसी क्या तुम उन्हीं की हो गईं, मुझे भी भूल जाओगी ? भाई साहब पिछली बार लाहौर आये तो मिले थे। हमने कहा ठहरो, पर कौन ठहरता है। क्यों जी, तुमने उनके मन को ऐसा बाँध रखा है ? बड़ी स्वार्थिन हो। ख़ैर, आऊँगी तब देखूँगी। ज्ञान को प्यार ।

तुम्हारी—

मालती

: ३ :

दिल्ली, ९ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

मालती के लिए साथ का पत्र है। उचित समझें तो भेज दीजिएगा। आपकी चिन्ता के लिए मैं कृतज्ञ हूँ, लेकिन मुझे कोई कष्ट नहीं है। भाई के यहाँ से मैं खुद ही चली आई। धर्मशाला में कई और रहते हैं। कुछ जीवों को तो वह भी नसीब नहीं है। इससे चिंता का कारण नहीं। इस महीने का रुपया मुझे अभी तक नहीं मिला है। मेरे नाम का रुपया मेरे हाथ में आप कर सकते तो कोई बुराई न थी। तो भी अदालत मैं नहीं करूँगी। सब आपकी न्याय-बुद्धि पर है, जो चाहें सो करें। मैंने ज्ञान को समझाया है कि बेटा, माँ के साथ तो तू दुःख ही उठायगा। बाप के साथ आराम से रहेगा और क़ाबिल बनेगा। पर वह मुझे छोड़ता ही नहीं है। आप उसे ले जा सको तो मुझे छुटकारा हो, पर घर पर मत रखना। उसे नई माँ से डर लगता है। किसी बोर्डिंग में दाख़िल कर सकते हो।

आपकी कोई नहीं

—शीला

पुनः—

आप चाहें तो मालती को आने को लिख सकते हैं। कह दीजिएगा कि मैं मायके या कहीं गई हूँ। —शी०

: ४ :

दिल्ली
६ अक्तूबर

मेरी चाँद-सी बहिन मालती,

मुद्दत बाद तुम्हारा पत्र मिला। चलो शीला की याद तो आई। तुम आ रही हो जानकर बड़ी खुशी हुई। मकान नया है और खूब जगह है। तुम आती तो धन्य हो जाता। पर जो तुमने आने के दिन लिखे हैं उनमें ठिकाना नहीं है। शायद कहीं बाहर जाना पड़े। कोशिश करूंगी कि ऐसा न हो। तब तुम्हारे भाई साहब तार दे देंगे। और तुम ज़रूर आ जाना। बाहर जाना पड़ा तो मेरा दुर्भाग्य है, लेकिन फिर बड़े दिन की छुट्टियों में दो रोज़ को ज़रूर आना। मालती, तू कैसी है? सुनती हूं अब तक अकेली और आज़ाद है। भाई, तू बड़ी मौज में है। औलाद से ज्यादातर दुःख ही निकलता है। पहले तो संसार ही दुःखी ही है। पर छोड़ो, तेरी गिरस्ती तो नंदन-कानन होगी।

तुम्हारी ही—
शीला

मालती,

ज़रूर आना, भूलना नहीं।

तुम्हारा—
कु०

: ५ :

दिल्ली
१० अक्तूबर

परम प्रिय बा० नंदकिशोर,

पत्नी से सूचना मिली है कि आप सब लोग इस महीने के अंत में प्रयाग के रास्ते में यहाँ उतरने का विचार रखते हैं। मैं अनुग्रहीत हूंगा यदि आप इस विचार को निश्चय का रूप दे दें और कृपा कर आतिथ्य का अवसर दें। उत्तर की प्रतीक्षा में रहूँगा।

कृपाकांक्षी
—कृपादयाल

: ६ :

दिल्ली
२७ अक्तूबर

शीला,

मालती आ रही है। सब आ रहे हैं। परसों सवेरे पहुँच रहे हैं। खुद आने का मुझे साहस नहीं हुआ, इससे पत्र है। तुम्हारे बिना कैसे होगा? कल दोपहर गाड़ी लेकर आऊंगा। चाहो तो इन दिनों मंजुला का इन्तज़ाम कहीं होटल में कर सकते हैं। शीला, तुम समझ सकती हो। इन्कार न करना। मैं कल आऊँगा।

—कृपा०

: ७ :

दिल्ली
२७ अक्तूबर

श्रीमान् जी,

आदमी ने पत्र दिया। ज्ञान मेरा पत्र लाता है। मालती क्यों आ रही है? मैंने तो उसे इन्कार लिखा था। मुझे कोई उसका दूसरा पत्र

भी नहीं मिला। आप जानें आपका काम। कष्ट न कीजिएगा। में नहीं आ सकूंगी।

२७ तारीख को मुझे रुपया मिला। अगले महीने पहली या दूसरी को नहीं मिल गया तो फिर पंद्रह-बीस की जो नौकरी होगी मुझे कर लेनी होगी, दूसरे के आगे पल्ला तो मैं नहीं पसार सकती।

—शीला

: ८ :

प्रयाग
८ नवम्बर

प्यारी शीला रानी,

मैं क्या कहूँ, बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ। मुझे ईर्ष्या भी होती है। मेरे पति तुम्हारे ही गीत गाते हैं। सच कहती हूँ शीला, दिल्ली में तुम लोगों के पास जैसे इलाहाबाद के दिन गुज़रे वैसे जीवन में कम आते हैं। में बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ कि तुम्हारी गिरस्ती आदर्श है और तुम लोगों में आपस में जो समझ-सौहार्द्र है उस पर ईर्ष्या होती है। हमारे यहाँ तो कुछ पूछो न शीला, आए रोज़ कुछ-न-कुछ रगड़ा-झगड़ा खड़ा होता रहता है। पर तुम लोगों का घर है कि कहीं क्लेश का बादल नहीं। प्रीति से स्वच्छ और मुक्त-हास्य ही वहाँ दिखाई देता है।

एक बात कहती हूँ, कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि तुममें पति के प्रति शंका नहीं है और पूरे विश्वास से तुम उन्हें आज़ाद रखती हो। तुम हमारे साथ सिनेमा नहीं गईं, नुमाइश नहीं गईं, कहीं नहीं गईं। पहले तो मैंने समझा तुम अप्रसन्न हो, पर वह बात नहीं थी। हमेशा प्रसन्न हास्य ही तुम्हारे चेहरे पर दीखता था। मेरे स्वामी को तो अधिकतर काम रहता था और तुम्हारे पति के साथ ही घूमने को मैं लाचार थी। लेकिन तुम्हारे चेहरे पर मैंने कभी मैल नहीं देखा। (इसके बाद की तीन पंक्तियाँ कटी हुई थीं और पढ़ी नहीं जा सकती थीं) शीला, मैं तुम्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देती हूँ। तुमने मेरी आँखें खोल दीं। इस

विश्वास के कारण ही शायद तुम्हारी गिरस्ती सुख से भरी है।

कल हम लोगों का काशी जाने का विचार है। उधर से अयोध्या होते हुए शायद लौटें तब दिल्ली आना न हो सकेगा। तुम लोगों ने इधर से दिल्ली होकर लौटने का वचन ले लिया था लेकिन वह संभव नहीं है, शीला रानो। और हमें माफ़ करना। बना तो लाहौर से फिर कभी आयँगे। लेकिन तुमने क्या ऐसा सन्यास-व्रत ले लिया है जो कहीं नहीं टलोगी। तुम लाहौर एक बार क्यों नहीं आतीं ?

तुम्हारी

—मालती

: ६ :

दिल्ली

१२ नवम्बर

शीला,

मालती का पत्र फिर मैंने खोल लिया जो साथ आता है। बीच-बीच की लकीरें मैंने काटी हैं। लेकिन अब मालूम होता है फिजूल काटी हैं। अपने बारे में तुम्हारी अच्छी सम्मति मैं ज़रूरी समझता था, पर ज़रूरी अच्छी सम्मति नहीं, स्वयं अच्छाई है, यह मैं देखता जाता हूँ। मंजुला होटल से अब भी नहीं आई। वह नाराज़ है। उसे होटल में रखकर तुम्हें घरमें क्यों बुलाया गया? मैं नहीं जानता उसे यह बात किस ने बताई। लेकिन अब यह समझने लगा हूँ कि सच बात अपने को स्वयं बतलाती है। झूठ बात को ही प्रयत्नपूर्वक बतलाना पड़ता है। खैर वह छोड़ो। तुम गईं। मंजुला गई। घर में अब आराम है। नौकर-चाकर हैं, फ़ौरन हुक्म पर काम करते हैं और दख़ल नहीं देते। वे अधीन हैं और घर में मेरी ही इच्छा और मेरा हुक्म सब-कुछ है। पर शीला अब लगता है कि कोई प्रतिरोध चाहिये। कोई चाहिये जो कम है, इससे अधीन नहीं है। बल्कि जो स्वाधीन है इससे प्रेमपूर्वक ही अपने को उसके अधीन करके उसे स्वाधीन करना होगा। प्रेम पुरुषार्थ है, शीला।

हम प्रेम के भोग को चाहते हैं उसके अध्यवसाय को नहीं चाहते। प्राणी के साथ सहज है वह तो स्वार्थ है, अहंकार है। प्रेम तो यत्न-साध्य है। शीला, यह मैं नहीं जानता, धीरे-धीरे जान रहा हूँ। अब तो जी होता है कि कह दूँ रुपया नहीं आयगा और चलकर कहूँ कि लो मैं ही आ गया हूँ। लेकिन उतना साहस नहीं है। तुम पर अपने को डाल सकूंगा उसी रोज़ तुम्हारे निर्णय पर किसी तरह का आरोप लाना चाहूँगा, उससे पहले नहीं। तुम्हारा निर्णय मेरा भाग्य है। रुपया तो पहली तारीख़ को पहुंचेगा ही। जब कहो सब-का-सब भी तुम्हारे हाथों में पहुँच सकता है। वह बात नगण्य है। लेकिन मंजुला का क्या करूँ? रूप है इससे उसे समझ नहीं है। रूप के गर्व में वह बुद्धि खो बैठी है। इसमें उसका क्या दोष है? मैंने ही क्या उसके रूप की क़ीमत उसकी आँखों में नहीं बढ़ाई! खैर, वह जाने दो। इस वक्त घर में मैं एकदम स्वतंत्र हूँ। और एकदम आराम से हूँ। तुम चिन्ता न करना।

तुम्हारा

—कृपा०

: १० :

दिल्ली

२ दिसम्बर

श्री०

एक तारीख हो गई रुपया नहीं आया। पर उस कारण नहीं लिख रही हूँ! लेकिन यह क्या सुनती हूँ कि घर में रात में कोई आता है। और तुम शराब पीने लगे हो। फ़ौरन उत्तर दो कि यह झूठ है, नहीं तो मैं यह नहीं सह सकती। जवाब ज्ञान के हाथ ही दे दें।

शीला

: ११ :

दिल्ली, २ दिसम्बर की शाम

श्री०

ज्ञान ख़त तुम्हारे वाली मेज़ की दराज़ में रख आया है। तुम मिले

नहीं थे। यह डाक से भेजती हूँ। जवाब तुरन्त दो। रुपया आज भी नहीं मिला।

शीला

: १२ :

दिल्ली, २ दिसम्बर

शीला देवी,

रुपया इसी ख़त के साथ है। एक दिन की देर के लिए क्षमा चाहता हूँ। जो सुनो, सच है। लेकिन मैं स्वाधीन हूँ। कोई मेरी चिन्ता क्यों करे। मेरी ज़िन्दगी मेरे हाथ है। और अगर आपको आपका रुपया वक्त पर मिलता जाता है तो उससे अधिक मैं क्या कर सकता हूँ? मंजुला ने २५०) मासिक की वृत्ति के लिए अदालत में मुझ पर दावा किया है। कल मैं उसीसे मिलने गया था इससे यहाँ ज्ञान से न मिल सका। २५०) मासिक से अधिक लेने का उसे हक़ था। कह आया हूँ कि यह रकम उसे प्रतिमास मिलेगी। दावा अब वापस हो जायगा।

देखता हूँ रुपया बड़ी चीज़ है। उससे झगड़े शान्त होते हैं और शराब प्राप्त होती है। रुपया है तो चिन्ता क्या?

—कृपा०

: १३ :

दिल्ली, १० दिसम्बर

ख़बर सुनो शीला,

मालती आ रही है। उसे मालूम है कि तुम यहाँ नहीं हो। मालूम है कि मैं अकेला हूँ और दुर्व्यसनी हूँ। पर यह भी मालूम है कि मुझे पैसे की अच्छी आमदनी है। मालती तुम्हारी सहेली है। यहाँ मैं उसके काम को नहीं जानता। वह १२ तारीख को सुबह पहुँच रही है। कहो तुम क्या कहती हो? शराब क्या अब भी बुरी चीज़ है?

—कृपा०

: १४ :

दिल्ली, ११ दिसम्बर

शीला,

आज फिर तार आया है। मालती आ रही है। तुम क्या समझती हो? मुझे इस वक्त तुम कुछ नहीं लिखना चाहती हो? फिर तुम न कहना मैं शराब पीता हूँ?

मंजुला आने को तैयार है। वह दो दिन घर रहेगी और मुझे आज़ाद रखेगी। डांस भी देगी। डांस वह अच्छा जानती है। फी दिन १००)। मालती का मन रखने को घर पर कोई तो चाहिए। क्यों शीला, क्या कहती हो?

—कृपा०

: १५ :

दिल्ली
१४ दिसम्बर

लो, शीला,

मंजुला गई, मालती गई। तुमने कुछ ख़बर नहीं ली न? मालती उपदेश देने आई थी। मैंने कहा कि मेरे पास धन है। उपदेश की एवज में धन ही ले जाओ। धन का देना आनन्द देता है। पर उसने धन नहीं लिया फिर भी उपदेश दिया ही। मैंने कहा पर वह तुमसे मिलने को राज़ी नहीं हुई। कहती थी तुम झेंपोगी। पागल है, वह तुम्हें नहीं जानती। लेकिन शीला शराब को दोष न देना, वह असलीयत बाहर ले आती है। शीला, मुझे माफ़ करना। मालती समझदार है। वह तुम जैसी नहीं है। वह दुनिया में धन की कीमत जानती है। और मंजुला दो रोज़ के बाद तीसरे रोज़ भी रही और हिसाब में १००) उसके भी लगे। शीला, वह मेरी पत्नी है। लेकिन धन बड़ी चीज़ है। अब तुम शराब को कुछ न कह पाओगी, लेकिन तुम तो इधर कुछ कहती ही नहीं हो। चलो

अच्छा है। मैं भी नज़दीक आ रहा हूँ कि तुम्हें लिखने के सिलसिले को अपनी तरफ़ से छोड़ दूँ।

तो तुम धर्मशाला में ही रहे जाओगी? घर जो यह पड़ा है। परन्तु तुम जानो। मैं शायद कुछ कहने लायक नहीं हूँ।

तुम्हारा
—कृपा०

: १६ :

दिल्ली
२६ दिसम्बर

लो, शीला,

यह अन्तिम पत्र है। मैं बिस्तर में हूँ। फ़िकर न करना। नर्स है, डाक्टर है। और सब इन्तज़ाम है। खुद नहीं लिख सकता हूँ। इसीसे तो खत लिखाया है। कल बड़ा दिन था। ईसा क्रास पर चढ़े थे। सोचता था, तुम्हारे पास आऊंगा और माफ़ी माँग लूंगा पर साहस न हो रहा था, तभी मंजुला ने होटल में बुला भेजा। बात संक्षेप में कहूँ। वहाँ से कैसे घर आया मालूम नहीं। होश आया तब डाक्टर को सिर पर देखा। अब ठीक है। चोट ऐसी नहीं है, लेकिन तुम्हें फ़ौरन आ जाना है। मंजुला के पास किसी को होना चाहिए। वह डरती होगी। गाड़ी आ रही है। अधिक मिलने पर—

तुम्हारा
—कृपा०

: १७

दिल्ली, ९ जनवरी

प्यारी बहन मालती,

तुम यहाँ आई थीं तब मैं मिली नहीं। तब से तुमने खत भी नहीं लिखा, बड़ी मुँह चोर हो जी! तुमने क्या यह समझा कि अपना घर मैं नहीं सम्हाल सकती?

सुनो बहन, अपने मनमें तुम कुछ न रखना । अखबारों से तुमने इन्हें चोट आने की खबर जानी ही होगी । मंजुला कुसंग में पड़ गई है । लेकिन मन से कोई बुरा नहीं होता और अगर हम मनमें से आदर नहीं खोएंगे तो एक दिन वह फिर इसी घर में आ जायगी । भूत से तो लड़ा नहीं जा सकता । जो होगया उसे मानकर ही चलना होगा । अखबारों ने बात बढ़ा-चढ़ा कर छापी थी । रुपये-पैसेका झगड़ा होगया था । यह तो रुपये पर हाथ नहीं भींचते, पर गुंडोंके सामने दबना नहीं चाहा होगा । मंजुला ५००) माहवार और १०,०००) नकद चाहती थी । यह राज़ी नहीं हुए । इन्होंने कहा कि मंजुला के लिए उनका प्रेम सच्चा होता तो २५०) भी उसे न देते । पर इतनी दुश्मनी उसके साथ नहीं कर सकते कि ५००) माहवार और १०,०००) दें । रुपये का सवाल नहीं है। पर इसमें मंजुला का ही भला नहीं है । तारीफ़ तो तब है जब मंजुला अपनी तरफ़ से कुछ न चाहे । वह घर में कुछ न चाहे । वह घर में क्यों नहीं रहती । इस पर कुछ कहा-सुनी हो गई होगी और मंजुला और उसके दो साथियों ने इन पर वार किया । मारने की मंशा होती तो मार सकते थे, पर जख्मी करके उन्हें यहीं घर पहुँचा दिया । अब काफ़ी आराम है ।

बहिन, स्त्री की कुछ न पूछो । मैंने सोचा था कि डिगूँगी नहीं, पर परमात्मा भला किसकी रखता है और स्त्री तो टूटने के लिए ही बनी है ।

बहिन न टूटने में कोई सुख भी नहीं है । खैर, अब बताओ तुम कब आओगी ? इन्हें अच्छा होने दो फिर हम भी तीर्थ-यात्रा पर जायंगे । चलोगी न हमारे साथ ?

तुम्हारी

—शीला

ग्यारह

अकेला

"मैं उनसे मिलकर ही आ रहा हूँ," मित्र ने कहा, "एक तरफ़ उड़द भीग रहे थे, वहीं कच्ची मूंगफली, इमली की पत्तियाँ और डंठल समेत दो मूली रक्खी थीं। यह उनका भोजन था। हमारी पुरानी जान-पहिचान है। इससे घुलकर बातें हुईं। उन्होंने सब सुनाया कि कैसे—"

मेरे मन में इन तपस्वी के बारे में जिज्ञासा थी। उनके सम्बन्ध में जितना पढ़ा उससे अधिक सुना है। इससे मैंने मित्र से उत्सुकता से पूछा—"इनसे आपका कब से परिचय है? कैसे हुआ? साधु वे कब बने?" इत्यादि।

मेरे बहुत-से प्रश्नोंका उन्होंने क्या उत्तर दिया उसे बतानेसे पहले मित्र का परिचय देना आवश्यक है। मित्र मेरे हितैषी हैं, बुजुर्ग हैं, पर बराबरी का सम्बन्ध मानते हैं, बल्कि मेरा आदर करते हैं। मेरे कारण वह आदर नहीं है, उनका स्वभाव ही दूसरों का आदर करना है। सच तो यह कि मैं उनके सामने लज्जित होता हूँ। वे अतिशय सेवाभावी, तत्पर और कर्मण्य हैं। बीच में गृह-त्याग कर निस्पृह लोक-सेवक हो गए थे। इस अनुभव में लगभग बीस वर्ष उन्होंने दिये। इस बीच में उनकी पुत्रियाँ, पत्नियाँ हो गईं, और पत्नी प्रौढ़ा हो गई। अंत में समय आया और प्रतीत हुआ कि अब उस प्रयोग की अवधि आगई है। जीवन की परि-पूर्णता उस राह नहीं है, यह दीखने लगा। औरों से कटकर अकेला बना जाता है, और अकेला होकर व्यक्ति ह्रस्व होता है। जगत् को अपनाने के लिए परिवार को पराया बनाना सही नहीं है।

अनुभव का परिणाम उन्होंने पत्नी को सुनाया तो वह सहमत न

हुई। पत्नी की सम्मति थी कि बढ़ा क़दम वापस नहीं हो सकता। अब फिर गृहस्थी में पड़ो, ऐसी तुम्हें क्या ज़रूरत है ?

मित्र ने कहा, "मैं अपने प्रति ईमानदार रहना चाहता हूँ, इसलिए अकेला नहीं रहना चाहता।"

पत्नी ने कहा, "तुम जहाँ तक उठे वहाँ से तुम्हारी स्मृति को मेरे लिए नीचे उतारना सम्भव नहीं है। बीस बरस तुम्हारी जिस उन्नत मुद्रा का ध्यान करके मैं जीती रही हूं, जीवन के शेष वर्ष भी उसी तरह बिता ले जाऊँगी। अंत समय तुम स्वयं उस जगह से उतरना चाहोगे इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती।"

एक प्रकार से अपना ही किया मित्र के सामने आया। ब्रह्मचर्य, परिवार-त्याग, अर्थ-निवृत्ति और अखंड-सेवा के आदर्श को एक दिन उन्होंने ही पत्नी में जगाया था। उस पति की सीख को, फिर भरपूर चेष्टा से, उस पतिव्रता नारी ने व्रत की भाँति अपने भीतर गहरा उतार लिया। तब वह कुछ समझी थी, कुछ नहीं समझी थी। पर मन में मानती थी कि जो ये करेंगे उसमें मेरा कल्याण है।

एक दिन पति प्रस्थान को उद्यत हुए। पत्नी ने कहा—"तो और तो सब ठीक है, लेकिन इन लड़कियों का क्या होगा ?"

पति ने कहा—"सबका योग-क्षेम वहन करने वाला तो भगवान् है। उसकी सामर्थ्य में शंका करती हो ?"

पत्नी ने माना कि पति की बात ठीक ही है। भगवान् है और वही मुझे पार लगायगा। यह सोचकर उसने पति के चरण छू लिये। पति उस कल्याणीया के मस्तक पर आशीर्वादपूर्वक हाथ रखकर विदा हुए। उसके बाद की कथा पत्नी ने पति को नहीं सुनाई। वह कुछ छोड़ नहीं गए थे। फिर किस तरह घर का काम चलता रहा और पुत्रियों का विवाह हो गया ? बीस वर्ष बाद लौटकर पति ने भी इस बारे में कुछ नहीं पूछा। पति को लज्जा थी। वह उस समय अपनी उस गत-यौवन

पत्नी के प्रति कृतज्ञता से भीगे थे, और यदि अब फिर साथ रहने का प्रस्ताव उनकी ओर से आया था भी तो उसमें यह भावना भी थी कि वह अतीत की कुछ क्षतिपूर्ति कर सकें और उस वंचिता नारी को अंत समय कुछ सुख दे दें। एक प्रकार वह प्रायश्चित्त करना चाहते थे।

किन्तु पत्नी ने अपना सुख नहीं देखा। उसने पति का मान देखा। कहा—"जिस भारतमाता के बंधन तोड़ने आप गये थे वे नहीं टूटे हैं। उससे पहले आपको इस अभागिन की याद क्यों आगई? अब तक अपने दुर्भाग्य में भी वह सुख मुझे था कि मेरे पति कर्तव्य-पथ पर बलि होने गए हैं। आज क्या वह सौभाग्य भी मेरे माथे पर नहीं रहेगा? नहीं, मुझसे असंभव न माँगिये।"

पति ने समझाकर कहा—"मैं हारा नहीं हूँ, प्रिये, लौट नहीं रहा हूँ। अपने हिसाब से आगे ही चलने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ। अपने विरोध में कुछ नहीं होता, मैंने शायद वही करना चाहा। आज दीख गया है कि वह मेरा भ्रम था। राष्ट्र के प्रति जो भी धर्म हो, सत्य के प्रति व्यक्ति का धर्म सनातन है। अर्थात् अपने प्रति झूठा आचरण करके किसीका कुछ भला नहीं किया जा सकता। तुम्हारे सामने यह कहते मैं लज्जा नहीं करूँगा कि जहाँ रहा हूँ तुम्हारी याद मुझसे दूर नहीं हुई है।"

पत्नी ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"शिव! शिव!"

पति कहते रहे—"जागते में यदि दूर रख पाया हूँ तो सोते में वह स्मृति उतनी ही मुझसे घनिष्ट होकर चिपटी रही है। फिर भी मैं बीस वर्ष काट गया। मान के बंधन सहज नहीं गलते। बीस वर्ष में भी वह पूरी तरह गल गए हैं यह नहीं कह सकता। लेकिन यह बात तो सच है कि ये सब वर्ष मिथ्या के आधार पर ही मैंने बिताए थे। इन वर्षों ने मुझे बहुत मान दिया, यश दिया, लोकपूजा दी। तुम उसी लोकपूजा के स्वीकार में मुझको इन्कार करना चाहती हो? मैं तुम्हें दोष नहीं

दूँगा। मैं स्वयं इस मिथ्या को अपने भीतर के सत्य के इन्कार पर इतने काल अंगीकार करता रहा। किंतु आज अपने महिमामय रूप को एक क्षण के लिए भी तुम्हारे सामने मैं सत्य रहने देना नहीं चाहता हूँ। उस झूठ को तुम्हारे आगे स्वयं ही तोड़ सकूं इसलिए मेरा आना और भी ज़रूरी था। आज मैं अकिंचन, निर्बल, प्रार्थी पर सच्चा बनकर तुम्हारे सामने हूँ। कभी तुम्हें शिक्षा देने का दम यदि मुझमें था तो आज उसीका प्रायश्चित्त करने की भावना है। तुम यदि तिरस्कार करोगी तो मुझे क्षोभ नहीं होगा। पर यदि स्वीकार—"

पत्नी सुनते-सुनते रो उठी। बोली—"दुनिया क्या कहेगी? नहीं, मैं नहीं—"

पति ने कहा—"झूठ के एक डंडे पर पैर रखकर दुनिया की आँखों में मैं ऊँचा चढ़ा इससे मेरे लिए तो और ज़रूरी है कि एक-एक करके नहीं, बल्कि एक बार ही वहाँ से गिरकर मैं धूल पर आ रहूँ। दुनिया की आँखों से सत्य की आँखें दूसरी हैं, देवी! वह ऊपरी को नहीं देखती, भीतरी को भी देखती हैं। वह कुल को देखती हैं। मुझे तो लग रहा है अब उन आँखों से मेरा छुटकारा नहीं है। इसलिए दुनिया क्या कहती है, सो सुनने की मुझे प्रतीक्षा नहीं है। अपनी गृहदेवी के द्वार पर मैं तो आ लगा हूँ कि वह मुझे क्या आज्ञा देती है!"

पत्नी ने रोते हुए कहा—"मुझे नरक में न घसीटो। मेरी बात नहीं है। लेकिन तुम्हारे बारे में एक भी हल्की बात मैं किसी तरह न सुन सकूँगी। तुमको मालूम नहीं, कि तुम क्या कह रहे हो? मैं सदा तुम्हारी हूँ। लेकिन साथ कैसे रह सकती हूँ—?"

पति ने कहा—"तो मेरे लिए आज्ञा है, मैं अकेला रहूँ?"

पत्नी ने कान पर हाथ रखकर भगवान् का स्मरण किया, कहा—"शिव! शिव!"

पति ने कहा—"अकेला मैं नहीं रह सकता, प्रिये! तुम्हें क्या बताऊँ। बीस वर्ष हो गए—अकेला रहना मेरे लिए अधर्म है।"

पत्नी रोती हुई वहाँ से उठ गई।

पति कुछ देर शून्य-भाव से वहाँ बैठे रहे, अनंतर चले आए।

वही मेरे मित्र हैं और अब भी अकेले हैं।

आगे फिर—

बारह

सोद्देश्य

"मुसोलिनी गिरफ्तार हो गया—मैं कहता न था!" व्रजकिशोर ने कुमारी वीणा से कहा।

वीणा कविता लिखती है और व्रजकिशोर वक्तृता देता है।

वीणा बोली—"तो फिर?"

"तुम कहती न थीं कि हिटलर-मुसोलिनी, स्वयं में जो हों, भविष्य की दिशा में रक्खे गए दो कदम हैं। बोलो, अब क्या कहती हो?"

"रूस, ब्रिटेन और अमरीका के हाथ राजनीति का धर्म-काँटा है, यह मैं नहीं मानती। नहीं, यह मैं नहीं मान सकती। फिर साथी राष्ट्र एक है, तो युद्ध को लेकर। भीतर से वे एक नहीं हैं। इससे राजनीति के राज में और नीति में किसको किसका गुरु माना जाय?"

साथी व्रजकिशोर ने कहा—"फासिज्म का अन्त निकट है। तैयार रहिए, कब खबर आ जाय कि हिटलर भी पकड़ा गया। हारने से पहले अपने भीतर की फूटसे ही वे टूट रहे हैं। यह तो होना ही था। मानवता के शरीर पर का यह फोड़ा कब तक न फूटता!"

वीणा हँसी। बोली—"आज मुसोलिनी ने मुझे बचा लिया, नहीं तो मेरी मुसीबत थी कि नई कविता दिखाऊँ!"

"हाँ," व्रजकिशोर ने कहा—"वह तो दिखानी ही होगी। क्रम आपको तोड़ना नहीं है। कान्ती को देखिए कि दूसरा संग्रह निकलने वाला है। वह क्या तुमसे ज्यादा जानती है? कलकी तो बात है कि मुझसे सीखती थी।"

वीणा को अपने कवि होने के सम्बन्ध में कोई अन्तरध्वनि नहीं

मिली। फिर भी इच्छा थी कि पत्र-पत्रिकाओं में कुछ छपे, जिसके ऊपर उसका नाम हो। जान-पहचान की कई और लिखती हैं। देखा-देखी कुछ लिखा, तो साथी व्रजकिशोर ने बताया कि वह प्रतिभाशालिनी है। इस प्रतिभा के कारण इधर पन्द्रह-बीस दिन से हर रोज उसे एक कविता लिखनी पड़ती है और साथी किशोर को उसे सिखाना और छपाना पड़ता है।

साथी शब्द, हृदय की दृष्टि से—यों किशोर एम० ए० के आखिरी साल में, और वीणा बी० ए० की परीक्षा देगी। पर श्रेणी का ही साथ सब कुछ नहीं होता। हृदय श्रेणियाँ नहीं गिनता। फिर किशोर प्रकृति से साथी है, मानव-जाति के हर सदस्य के प्रति वह साथी होने में विश्वास रखता है। गरीबों का, दलितों का साथी है तो फिर वीणा के साथी होने में उसे क्या दिक्कत है! वीणा गरीब नहीं है, और दलित नहीं है। अमीर है और लाड़ली है। इसके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। यों पूछिए तो शिक्षा, सौन्दर्य और आभिजात्य वीणा के पक्ष में बाधाएँ हैं, पर किशोर सहिष्णु है और इतर विश्व की भाँति इस एक वीणा का भी साथी है।

कहा—"लाओ-लाओ, दिखाओ।"

वीणा की झिझक का कारण था—सावन के दिन चल रहे हैं। कल कुछ फुहार थी। हलकी-मीठी धूप भी थी। ऐसे समय आकाश में इन्द्र-धनुष दीख आया। छतपर खड़ी होकर वह उसे निहारती रही। देखती है कि धनुष तो दो हैं। प्रकृति नहा उठी है। सब-कुछ सलोना है। फिर उस समय जाने कैसा मालूम हुआ! वह अकेली थी पर अकेलेपन में भी मानो भीतरसे भर आई। हिंडोलेमें झूलती-झूलती कुछ गुनगुनाने लगी। भीतर के रीतेपनको जो वस्तु अनायास भर जाती है उसके स्वाद को कुछ ठीक तरह कह नहीं सकते। वह मीठा भी है, और तीखा भी है और कड़ुवा भी है, और सलोना भी है। पर नहीं, वीणा कुछ नहीं जानती। उसे याद आती है, पर किसी खास की नहीं। वह चाहती है, पर जाने क्या—सच यह कि वह कुछ नहीं चाहती। दिन बहुत-बहुत सुहावना है। सब-कुछ

सुहावना है। बयार कैसी प्यारी है। आसमान कैसा भीगा है। नन्हीं-नन्हीं फुहार कैसी भली लगती हैं। नहीं, वह कुछ नहीं जानती, वह कुछ नहीं चाहती। वह बस है, और हिंडोलने में झूलती हुई गुनगुना रही है।

मानता टूटी तो उसे कुछ बुरा भी लगा। लेकिन उसने स्वयं तोड़ी थी, क्योंकि अपने से अलग कर उसे कुछ पंक्तियों में बाँध रखने का ख्याल हो आया। कागज़-पेन्सिल लेकर तब उसने कुछ लिख डाला।

साथी किशोर के सामने उसे झिझक यही थी कि यह कैसी बड़ी भारी मूर्खता हुई। दुखी, दीन, दलितों को भूलकर उसने यह क्या कर डाला। बोली—"नहीं-नहीं, मुझसे कुछ लिखा नहीं गया।"

साथी ने कहा—"वीणा, ऐसे नहीं चलेगा। लाओ, देखें क्या लिखा है।"

वीणा ने कहा—"आज नहीं, शाम कुछ लिखकर कल दिखाऊँगी। आपने क्या विषय बताया था, मैं भूल गई।"

"कोई विषय ले सकती हो—जठराग्नि, कुदाली की करका ठूँठ, विषय-ही-विषय पड़े हैं। जिनका दुःख मूक है, काव्य की वाणी उन्हीं के लिए हो। उससे हटकर काव्य विलास हो जाता है। वीणा, साहित्य न विनोद, न विलास, वह दायित्व है। सामाजिक पृष्ठभूमि जिसमें नहीं, वह रचना स्व-रति की द्योतक है। अपने को भुलाने और बहकाने से नहीं चलेगा, सामाजिक चेतनाको प्रबुद्ध करना होगा। हम पूँजीवादी व्यवस्थाकी जकड़ में हैं वीणा। उसका समर्थक साहित्य मीठा होने की कोशिश करता है। भावना की उत्कटताको मन्द करके मानो हमें सुलाना चाहता है। हमको जागना होगा और साहित्य से सबको जगाना होगा। इस जकड़को तोड़ना और क्रान्ति को सिद्ध करना है, वीणा। जो दीन हैं, वे दीन नहीं रहेंगे और जिनके हाथ में श्रम है, वे ही विधाता होंगे। परसों की तुम्हारी कविता ठीक थी। मैंने वह साथी उमेश को दे दी है। उसका ख्याल है कि वह अच्छा 'मार्च सौंग' बन सकती है। लेकिन कल भी तो कुछ लिखा होगा, दिखाओ न?"

"नहीं, कुछ नहीं लिखा।"

"नहीं वीणा, लिखा है और यह भी कह सकता हूँ कि अच्छा लिखा है। तुम जो लिखोगी, अच्छा लिखोगी।"

वीणा कुछ कहे कि मां की गूँजती हुई आवाज़ सुनाई दी—"वीणा!"

वीणा को इस बात पर झल्लाहट है। यह बैठक, मकान के बाहरी हिस्से में है। साथी कोई मिलने आए तो अंदर विघ्न उपस्थित नहीं होता। पर बैठक में बातचीत का स्वर चढ़ जाये तो भीतर सूचना हो ही जाती है। ऐसे समय मां भी पुकारनेसे चूकती नहीं देखी जाती। वीणा कुछ पुराने ढङ्ग की होने पर भी यह सोचे बिना नहीं रहती कि मैं वीणा हूँ, पदार्थ नहीं हूँ। कीमती चीज को चौकसी की जरूरत हो,मैं अपना भला-बुरा जानती हूँ।

झल्लाई हुई बोली—"क्या है, मां?"

"क्या क्या है?" कहती हुई मां उसी कमरे में आईं और बोलीं—"इतनी देर से बातें कर रही है। यह नहीं कि मां चूल्हे में होगी, सो देख लूँ, कुछ काम तो नहीं है।"

किशोर ने कहा—"नमस्ते, माताजी!"

"नमस्ते—तू कहती थी, रायता मैं बनाऊँगी। चल, देख न?"

"चलो, अभी आई।"

"और तुझे खबर भी है, शाम को चौक से वे लोग आने वाले हैं!"

"हाँ, खबर है।"

"तो आ रही है न?"

"अभी आती हूँ।"

मां चली गईं। कुछ देर दोनों चुप बने रहे। फिर किशोर ने पूछा—"कौन आने वाले हैं?"

"कोई नहीं।"

"तो भी कौन?"

"कह तो रही हूँ, कोई नहीं।"

"नहीं वीणा, ठीक बताओ, कौन आ रहा है?"

"मुझे देखने कोई आ रहे हैं।"

किशोर झिझका। वीणा का चेहरा प्रसन्न न था।

उत्साहित होकर किशोर ने कहा—"वीणा, हम किसी की सम्पत्ति नहीं हैं। हमें पढ़ाने-लिखाने की किसीने भूल की है तो क्या यही परिणाम न होना चाहिए कि हम कहें, हमारे अपने विचार हैं और हमारा अपना रास्ता है। शिक्षा ने हमारी आँखें खोली हैं तो हम अंधे बनकर रूढ़ियों के चक्करमें कैसे चल सकते हैं? वीणा, तुम कमजोर नहीं होगी," कहते-कहते किशोर ने वीणा का एक हाथ पकड़ लिया, "तुमसे हमें बहुत आशाएं हैं, और मैं...मैं...!"

वीणा ने क्षणेक अपना हाथ वहाँ रहने दिया और बोली—"मैंने कल एक कविता लिखी थी," और अंदर की जेब से कागज निकालते हुए कहा, "देखो!"

किशोर ने कागज लिया और खोला—

वीणा ने कहा—"अब मैं जाती हूँ।"

सुनकर, सिर उठाकर, उसने वीणा को देखा। कागज खोलते हुए अनायास ही कविता की ऊपर की पंक्ति उसमें उतर गई थी। और वह सोच रहा था—'ओ, अपरिचित प्राण मेरे!' मैं, जिसको अपना बनाकर और फिर अपरिचित कहकर पुकारा गया है, वह क्या मैं ही नहीं हूँ!

"जाती हूँ।" कहकर वीणा वहाँसे जाने लगी तो आर्द्र कंठसे किशोर बोला—"वीणा!"

किन्तु वीणा उधर से पीठ मोड़कर चली जा रही थी।

किशोर कागज सामने बिछाकर कविता पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते वह खो गया। कब उसमें आँसू भर आए, उसे पता न था। जब टप-टप टपककर कविता की स्याही उन्होंने फैला दी, तब उसे चेत हुआ। आँसू पोंछे। उसे किसी तरह निश्चय न हो रहा था कि कविता का अपरिचित

प्राण,जिससे बिछुड़ा इसलिए जारहा है कि बिछुड़ना सम्भव ही नहीं है, जो इतना अपना है कि अपरिचित होना सह सकता है, वह क्या मैं ही नहीं हूँ !

उसने कविता के कागज को ओंठों से लगाकर अपने ही आँसू को पी लिया। उसे लग रहा था कि कविता में शब्द नहीं हैं, वाक्य नहीं हैं, छन्द नहीं हैं, अर्थ नहीं हैं—उन सबके पार कुछ है जिससे उसे छुटकारा नहीं मिलेगा !

तेरह

समाप्ति

बात हो पड़ी कि कोयले के भीतर आग है, या वह कोयले के बाहर है ?

एक ने कहा, अगर कोयले के अन्दर आग न होती तो वह कैसे जल सकता था। जब आग अन्दर ही नहीं है तब किसी प्रकार किसी प्रयोग से वह बाहर कैसे आ सकती है ?

दूसरे ने कहा, अगर यह बात है तो कोयला ही आग क्यों नहीं है। हमारे घर में ढेर-का-ढेर कोयला पड़ा है और एक बच्चा भी उससे खेल सकता है। लेकिन अगर आग ज़रा भी हो तो मजाल है कि कोई उसे छू भी सके ?

मेरे देखते-देखते दो मित्रोंकी बात बहस बन गई। और जल्दी ही वह बहस गरम हो आई। गरम ऐसी कि पता चलना मुश्किल होगया कि दोनों मित्र हैं कि शत्रु।

एक कहता—आग है।

दूसरा कहता—आग नहीं है।

पहला—तुम कुछ नहीं जानते।

दूसरा—तुम बेवकूफ़ हो।

पहला—बेवकूफ़ ! तुम गधे हो।

दूसरा—गधा ? ज़रा फिर तो कहना—

देखता क्या हूं कि बात-बात में आस्तीन चढ़ने की नौबत आगई है। कोयले में आग हो-न-हो, पर उसके होने-न-होने को लेकर यहाँ सचमुच ही कहीं वह न हो पड़े !

मैंने कहा—सुनो भाइयो, चार बज गए। अब उस पार्टी में चलना है कि नहीं? चलो, तैयार हो जाओ।

हम सभी को एक पार्टी में जाना था। मित्र आये थे कि सब साथ-साथ चलेंगे। लेकिन हमारी मण्डली का हरेक आदमी स्वाधीन चिंतक है। इसलिए हमारे बीच में जब हाहा-हीही नहीं होती, तब बहस होजाती है। अभी यह कोयले की बात आपने सुनी। लेकिन कभी परमात्मा की बात बीचमें आ जाती है, कभी समाज-सरकार की, कभी इसकी, कभी उसकी। पर बात का आदि परमात्मा की सृष्टि से आरम्भ हो कि पत्थर-कोयले की आग से, इति सदा गर्मा-गर्मीमें होती है। माथा जा चढ़ता है, अक्सर आस्तीनें आ चढ़ती हैं, और मालूम होता है कि परमात्मा के सृष्टि कर्तव्य का अथवा कोयले में अग्नि की वर्तमानता का सदा के लिए निपटारा अभी हाल मुक्के के ज़ोर से कर ही दिया जायगा।

ऐसे समय चाय के प्याले या शरबत के गिलास का आगमन, या मिष्टान्न का दर्शन, या किन्हीं महिला की उपस्थिति—आशय कि किसी मार्ग से किंचित् रसोपलब्धि हमको सुधि दिलाती है कि मुक्का-मुक्की द्वारा तत्व-निर्णय ही कालयापन का एक उपाय नहीं है, अन्य भी अनेक कर्म हैं। जीवन उनसे भी चलता है। बल्कि बहस की जगह उन कामों को करना कुछ करना कहला सकता है। उस समय आस्तीन का चढ़ाव और ज़रूरी हो जाता है, मस्तक खुल आता है और मित्र मित्र के मित्र हो रहते हैं।

सो मैंने जब याद दिलाई कि अरे भाई लोगो, पार्टी में चलने के लिए तैयार हो जाओ, मैं श्रीमती को भी कहता हूँ, तब एकाएक ता जैसे वे समझे नहीं। बहस की चहक जो चढ़ी थी। उन्होंने ऐसे देखा, जैसे बेहद ज़रूरी काम से उन्हें फ़ुर्सत न हो और मुझ पर करुणा करना चाहते हों। मैंने फिर कहा, "देखो घड़ी, चार बजे वहाँ पहुँचना है।"

तब उन्होंने अनायास घड़ी देखी। हठात् होश पकड़ा और धीरे-धीरे स्वस्थ हुए। गोविंदराम ठंडे होकर कुछ मद्धिम हँसे। बोले, "ठीक तो है

अनन्त ! छोड़ो कोयले को। हम भी खुराफ़ातें ले बैठते हैं।"

अनंतराम भी मानो चैन पा उठे। बोले, "ठीक तो है। यह क्या हम फ़िज़ूल की बहस ले बैठा करते हैं जी !"

गोविंदराम अनंतराम से ज्यादा सही हैं, और ज्यादा बुद्धिमान हैं, अथवा अनंतराम ज्यादा हैं, यह प्रश्न उस समय महत्वपूर्ण मानो रह ही नहीं जाता। मित्र-मित्र बनकर, न छोटे न बड़े, मिले-जुले पार्टी में चले जाते हैं। खुश जाते हैं, खुश आते हैं, और खुश रहते हैं।

आप कहेंगे, यह तो ठीक है। इन मित्रों की खुशी में हमें भी खुशी है। दोस्त को हम दुश्मन नहीं चाहते। लेकिन प्रश्न है कि क्या तत्व-चिंता और तत्व-निर्णय आवश्यक कर्म हैं या नहीं है? क्या सबको सब कुछ मानने, और सबको सब-कुछ कहने दें ? यह कैसे हो सकता है ! झूठ का निराकरण और सत्यका प्रतिपादन किये बिना क्या हम रह जायं ? जी नहीं, कदापि नहीं। गोविंदराम और अनंतराम अपनी मित्रता को ध्यान में लाकर तत्व-निर्णय की ज़िम्मेदारी से अपने को बचा लें तो बचा भी लें। लेकिन तत्वज्ञ उस ज़िम्मेदारी से कैसे बच सकता है। उसे शत्रुता-मित्रता पर तो अटककर नहीं रह जाना है। वह तो तत्व की बात बताकर ही छोड़ेगा। चाहे उसमें कोई शत्रु ही क्यों न हो जावे। गोविंदराम-अनन्तराम दुनियादार आदमी होंगे, जो बहस को किसी निर्णय तक पहुँचाए बिना ही छोड़ बैठें। किन्तु दायित्व का तकाज़ा है कि तर्क को तर्कान्त (लाजिकल एन्ड) तक ले जाना होगा, वहाँ जहाँ फिर अतर्क है। तत्वज्ञ भला बीच में कैसे हार बैठ सकता है। क्या बीच में उसे छोड़ देना कापुरुषता ही नहीं हो जायगी ! मुष्टि-प्रहार का अवसर आए, तो क्या उससे भयभीत हो जाया जाय?...

इस तरह के सवाल आपके मन में भी उठते होंगे, क्योंकि, वे मेरे मन में उठा करते हैं। बहस के लायक विद्या तो मुझमें नहीं है। उतनी भाषा भी नहीं आती। लेकिन मालूम होता है कि अधिक ज्ञान मुझे होता और भाषा पर भी कुछ प्रभुत्व होता, तो ऐसे-ऐसे प्रबल तर्क अपने

तर्कस में से मैं खींचकर निकाल चलाता कि सब-कुछ खंडित होकर रह जाता और प्रतिपक्षी धराशायी ही दीखता।

पर हाय, मैं अक्षम हूं। जानता-बूझता बहुत कम हूं। और जो जानता हूं, कह उसे भी नहीं पाता। लेकिन सोचा करता हूं कि जो-कुछ भी मैं ठीक समझता हूं, क्या सर्वथा वही ठीक नहीं है। तब अन्यथा समझने वालोंको मैं क्यों न उसी (अपनी वाली) ठीक समझ पर लाने की कोशिश करूँ। वे बिचारे भूले हुए हैं, भटक रहे हैं। भूलमें अपना अकल्याण कर रहे हैं। ग़लत को सही मान रहे हैं। असल में सही क्या है, वह तो मैं जानता हूँ। तब क्यों न चल पड़ूं और सबको सही राह दिखा डालूं।

राहें बहुत हैं। जितने धर्म हैं, वे सब मार्ग ही तो हैं। लेकिन वे सब पंथ झूठे हैं। जो मेरे धर्म का मार्ग है, वही एक सही और सच्चा मार्ग है। वही कल्याणकर है। बाकी धर्म के नाम पर जो रास्ते हैं, वे सीधे अज्ञानमें और नरक में ले जाकर पटक देते हैं। बैकुण्ठधाम को जो सन्मार्ग पहुँचाने वाला है, वह है, जो मेरे धर्म का है। बाकी और पाखण्ड नहीं तो क्या है ?

अफ़सोस यही है कि मेरी जुबान में वह ताक़त नहीं है और दिल में वह पक्कापन नहीं है। उस दिन उन मौलाना का लेक्चर सुना था। क्या साफ़ बातें कहते थे! बड़ी-बड़ी सचाइयों पर उनकी ज़बान ऐसी रपटती चली जाती थी कि दाँतों अंगुली देनी पड़ती। और शास्त्रार्थ में सामने के वह पंडित—वाह! क्या अगाध गम्भीर ज्ञान! मानो कोई रहस्य उन से छिपा नहीं है। जो है, उन्हें हस्तामलकवत् है। पंडितजी को कुरआन के भेद मौलाना से भी अधिक मालूम थे और मौलाना को तो वेदों की अस्लियत का पूरा-ही-पूरा पता था। एक को मालूम था कि संस्कीरत का ईश्वर कैसे ग़लत है, और दूसरे को ज्ञात था कि अरबीक का खुदा कैसे अज्ञानता है। और दोनों ऐसी-ऐसी ज़ोरकी और अकाट्य बातें कहते थे कि जब एक की सुनता था, तब उसके जैसा मैं हो जाता था और

दूसरे की सुनता था, तब वही सही मालूम होता था।

भाई, यह दुनिया भी अजब पहेली है। पंडितों ने और मौलवियों ने उसका पार पा लिया है। और ऐसा मालूम होता है कि उस पहेली का पार पाना है तो पंडित बनो, या मौलवी बनो। या फिर सीधी राह है कि आँख मूँद कर किसी एक के मुरीद बन जाओ। नहीं तो हालत मेरे जैसी रहेगी। दावेके साथ कुछ कहनेकी हिम्मत ही न होगी और बस नरम बने रहोगे।

लेकिन राह छोड़ हम यहाँ कहाँ आगए। बात असल पर आवें। गोविंदराम और अनन्तराम एक रोज़ फिर कोयलेको और कोयलेकी आग को ले बैठे। तब फिर देर क्या थी। मित्रता दो-एक तर्क के झपाटों में ही झट कोयले के नीचे आ रही और दब गई। मामला तूल पकड़ने लगा। गोविंदराम ने कहा—"तुम कहते हो कि कोयले में आग नहीं है?"

अनन्तरामने उतने ही ज़ोरसे कहा—"और तुम कहते हो कि कोयले में आग होने के लिए दियासलाई की ज़रूरत नहीं है?"

गोविंदराम ने कहा—"अभी तुम्हें बारीक बातें समझने के लिए समय चाहिए।"

अनन्तरामने कहा—"ग़नीमत है कि मेरी समझ आप जितनी मोटी नहीं है।"

बात की प्रचण्डता देख मैं चुपचाप उठा। अन्दर से एक कोयला लिया और खरल उठाया। बहस के मौक़े पर पहुँचकर दोनों चीज़ों को बीच में मेज़ पर रख दिया।

वे बोले—"यह क्या है?"

मैंने कहा—"यह कोयला है, और ज़रूरत होने पर कोयले को पीसने के लिए वह खरल है। शायद ये चीज़ें तत्व-निर्णयमें कुछ काम आवें।"

थोड़ी देर बाद अनन्तराम को एक काम की बात सूझी। उन्होंने कोयले को हाथ में उठा लिया और कहा—"यह कोयला है। तुम कहते हो, इसमें आग है।"

गोविंदरामने कहा—"ख़ैरियत है कि आग वह प्रगट नहीं है। नहीं तो आपको पता लग जाता।"

अनन्तरामने कहा—"लीजिए,तो आप इसमें से आग प्रगट कीजिए। देखें कैसे करते हैं! क्या इसे तोड़कर दिखा सकते हैं कि वह आग इस में कहाँ बैठी हुई है?"

गोविंदरामने कहा—"दियासलाई एक कितनी देर तक जलती है?एक मिनट भी तो जलती नहीं। लेकिन अँगार भी क्या दियासलाई के साथ बुझ जाता है? अगर वह दहकता रहता है, तो क्या वह अँगारे की आग दियासलाई की कही जायगी। दियासलाई बुझी पड़ी है, कोयला जल रहा है। आग कोयले के अन्दर न होती, तो वह जलता रहता कैसे?"

अनन्तराम पर स्वभावतः गोविंदराम की बात का प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कहा देखो, मैं तुम्हारे सामने कोयले को पीसकर धूल किये देता हूँ। आग है तो वह जलती क्यों नहीं! ऐसा कहकर वह सचमुच कोयले को ठोक-ठोककर खरल में पीसने लगे।

कोयला चूर होगया और तब भी आगका पता न चला। अनन्तराम ने घोषणा की कि चूँकि आग का पता नहीं चला है, इसलिए साबित है कि गोविंदराम को कुछ आता-जाता नहीं है।

गोविंदराम ने भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं। देर अधिक न थी। भ्रुकुटियों में बल आ चला था। और अब नहीं तो अब, आस्तीनें चढ़ी ही दीखतीं।

मैं घबराया। मैंने ज़ोर से कहा—"सुनना, अजी ज़रा सुनना।"

तुरन्त तो नहीं (क्योंकि तुरन्त सुनने का क़ायदा ही उस बिरादरी में नहीं है) लेकिन कुछ समय के अनन्तर श्रीमतीजी ने सुना और कमरे में प्रवेश किया।

मैंने कहा—"ये लोग बैठे हैं। पान-वान कुछ तो भेजो।"

श्रीमती ने सुना, शर्माईं, मुस्कराईं, और बेबात चेहरे को पल्ले की हल्की-सी ओट दिये चली गईं।

पलटकर क्या देखता हूँ कि गोविंदराम और अनन्तराम के चेहरों पर बहस और गर्मी अब नहीं है। वहाँ अब शिष्टता है और शालीनता है। मैंने कहा—"कोई बात नहीं। आप अपनी चर्चा चलाइये। इतनेमें पान आते हैं।"

अनन्तराम और गोविंदराम दोनों तनिक धन्यवाद-भाव से मुस्करा दिए और आगे चर्चा न चला सके।

श्रीमतीजी आकर चली गईं और मैंने देखा कि उनके इस एक झाँकी देकर बेबात चले जाने से दोस्तों के दर्मियान इकट्ठे हुए सब बादल जाने कहाँ बिला गए हैं। और किसी को ख़याल नहीं है कि तत्व निर्णय का तार टूटकर कहाँ छूटा रह गया है। और जब पान के बजाय एक-एक नमकीन, मिठाई और फलों की तश्तरी आ पहुँची, तो गोविंद-राम अनन्तराम बिना भेद-भाव और वाद-विवाद के अखंड मित्र की भाँति तल्लीनतापूर्वक उन पर झुक गए!

मैंने तब समाप्ति का सार पा लिया। मन में कहा—खूब!

चौदह

सज़ा

बाहर के बरामदे में बेंत की कुर्सी डाले सुहावनी रिम-झिम देख रहा था। पानी बन्द नहीं होता दीखता था। शायद यह झड़ी कई दिन चल जाय। कभी मेंह धीमा होता कि थोड़ी देर में फिर बौछारें तेज़ी पकड़ लेतीं। बरामदे के पौधे मैंने नौकर से हटवाकर पीछे रखवा दिए थे। वर्षा की बूंदों की अगवानी पर पहले तो उन पौधों की पत्तियां हँसती मालूम हुईं पर पीछे मारे बौछारों के बेचारी ठिठुरी-सी दीखने लगी थीं।

ऐसी झड़ी में देखता क्या हूँ कि चले आ रहे हैं मित्र अय्यर। अय्यर का भरोसा नहीं, बुलाते रहो तो शायद एक न सुनें, वैसे जाने कब आ धमकें। गाँव-गाँव घूमते रहते हैं। बी० ए० में अव्वल दरजे में आने का प्रायश्चित जैसे जिन्दगी भर करते रहेंगे। प्रायश्चित्त का ढंग यह है कि बात-चीत या चाल-ढाल से किसी को पता न चलने देंगे कि वह अंग्रेज़ी जानते हैं, और बोलेंगे एक-दम वाहियात हिंदी। हिन्दुस्तान के तले किनारे, समझिए बस कुमारी अन्तरीप के कहीं आस-पास, के रहने वाले हैं। यहाँ दिल्ली में चर्खे को धरम बनाकर उसीके प्रचार में लगे रहते हैं। मैं भले आदमी से कह-कहकर हार गया कि अरे भाई अय्यर! क्यों भाई-बहिन और माँ-बाप से बिछुड़कर कांग्रेस के इस बंजर काम में पड़े हो! अपनी सूरत भी कभी शीशे में देखते हो? ऐसी अपने से क्या दुश्मनी? ब्याह करो और अपने लायक़ बनो। सुनते हो?

पर अय्यर है कि मीठी मुस्कराहट से ही सब कड़वी बातों का जवाब दे देता है।

पर अय्यर का बखान छोड़ें क्योंकि बखान का वहाँ अवसर कहाँ था। हज़रत थे तरबतर, सिर पर टोपी तक नहीं थी, छतरी की तो पूछिये क्या? पैरों की चप्पल से उछटीं कीचड़ की छींटों से धोती रंगीन हो रही थी।

मैंने कहा—"अरे अय्यर! आओ, आओ।···अजी आना, देखना यह कौन हैं।"

अय्यर ने हाथों के काग़ज़ में होशियारी से लिपटे हुए बण्डल को अलग रखा और सिरके बालों को सूंतकर पानी निचोड़ा। कहा—"तेज़ बारिश है।"

मैंने कहा—"और तुम क्या कम तेज़ हो कि ऐसी बारिश में निकल पड़े घर से!"

मालूम हुआ कि जनाब आ रहे हैं एक गांव से, जो दस मील है। चले तब बारिश न थी। यह धोती आज सवेरे ही तैयार हुई। अपनी ही कती-बुनी है, बहिन को आज ही उपहार-रूप भेज देने की इच्छा थी, इसलिए शहर चले आए हैं। मेरी जगह रास्ते में पड़ती है, सो इधर ही मुड़ आए।

मैंने धोती देखी, अन्दर से श्रीमतीजी ने भी आकर देखी और पसन्द की। लेकिन उनको अय्यर की यह बात बिल्कुल पसन्द नहीं कि वह चाय नहीं पीते। उन्होंने कहा—"चाय अभी दो मिनटमें तैयार होती है। इतने चाहो तो नहा डालो और कपड़े बदल लो।"

अय्यरने कहा कि—"भाभी, चाय तो रहने दो। पर कपड़े दो तो नहा लेना मैं ज़रूर चाहता हूं।"

भाभी ने कहा—"चाय नहीं लोगे तो कपड़े ही मैं क्यों देने लगी?"

कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये वह अन्दर चली गईं और थोड़ी देर में आकर बोलीं—"चलो सब तैयार है। गुसलखाना भूले तो नहीं, कि मैं चलूँ?"

अय्यर जाँघिए और बनियान में हमारी श्रीमतीजी के पीछे-पीछे चल दिए।

लौटे तब तक मेज़ पर चाय का सामान लाया जा रहा था। अय्यर ने कपड़े पहने और मैंने देखा कि मेरे कपड़ों में अय्यर पहले से कुछ दुरुस्त ही मालूम होता है। चाय पर बैठकर वह बहुत-कुछ हीला-हवाला करता तो रहा, पर हमारी श्रीमती ने उसका कुफ्र तोड़कर ही दम लिया। यानी अय्यर के गरम दूध के प्याले में दो बूंद चाय तो डाल ही दी। अय्यर ने हंसकर उस प्याले को मुँह लगाया और गट-गट पी गया। कहा—"आप नाराज़ न हों तो ऐसा ज़हर-छुआ प्याला एक-आध मैं और ले सकता हूँ, अगर आप दें।"

मैं सुनकर क़ायल हुआ। मैं उस आदमी को गवारा नहीं कर सकता जिसे मज़ाक़ गवारा नहीं है। अय्यर की अविवाहित अवस्था को मैं इसीलिए क्षमा करता हूं कि उसने मेरी श्रीमती को शुरू से 'भाभी' कहा, एक भी दिन 'बहिन जी' नहीं कहा।

मैंने कहा—"सुनो, ज़हर ज़रा कम रखने की ताकीद इन महात्मा से मिले, इससे पहले ही तुम अपनी ओर से उसे डालने में संकोच क्यों दिखाओ?"

सचमुच इस बार श्रीमतीजी ने आधा प्याला चाय का भर दिया तब उसमें दूध छोड़ा। अय्यर कहते रह गए बस-बस, लेकिन श्रीमतीजी ने हँसकर कहा—

"खुद दे रही हूं फिर भी डरोगे? लो, डरो नहीं।"

अय्यर ने हँसकर कहा—"मैं बेगुनाह हूं। मुझ पर कृपा क्यों?"

कहकर उसने प्याला उठा लिया।

उसकी भाभी ने उसी तरह हँसकर कहा—"सोचो नहीं, ज़हर ही अमृत होता है। आँख मींचकर राम के नाम के साथ पी जाओ।"

'तो लो' कह कर प्याला वह ओठों के पास ले गया।

लेकिन देखते क्या हैं कि प्याला उसने एकदम मेज़ पर रख दिया

है और खड़े होकर वह सीने पर हाथ दबाकर कुर्ते की जेबों को टटोलने लगा है।

मैंने कहा—"क्यों, क्या हुआ ?"

उसने जवाब नहीं दिया और कभी इस जेब को तो कभी उस जेब को टटोलता रहा।

मैंने फिर पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

संक्षिप्त-सा "कुछ नहीं" कहकर वह अपनी कुर्सी को हटा पुलिन्दे की धोती की तहों में अच्छी तरह दाब-दाबकर कुछ देखने लगा।

पता चला कि उसका पर्स ग़ायब है। जाने क्या हुआ ? होना तो जेब में चाहिए था, कि सहसा उसे कुछ ख्याल आया और कुर्सियों के बीच से रास्ता बनाता हुआ वह अन्दर चला गया। थोड़ी देर में लौटा और कहा—"आपके नौकरका क्या नाम है ? उसने तो गुसलखाने में पर्स नहीं देखा? मुझे ठीक याद है कि नहाते समय मैंने पर्स अलग निकालकर रखा था। लेकिन अब वहाँ नहीं है।"

मालूम हुआ कि पर्स 'में चार दस-दस के नोट हैं, दो सिक्के के रुपये, कुछ रेजगारी, दो ज़रूरी खत, और एक पता।

मैंने अपने यहाँ के सुरजना को बुलाकर पर्स के बारे में पूछा। वह सुनकर अचरज में रह गया और कुछ न बता सका। मैंने ताकीद देकर कहा कि जाओ, तलाश करो। नहीं तो तुम ही जानोगे। घर में दूसरा कौन है कि उसको कहा जाय !

सुरजनाने अपनेको निर्दोष बतलाया। लेकिन मेरी डपट के आगे वह ज्यादा मुंह नहीं खोल सका और चला गया।

श्रीमतीजी ने पूछताछ करनी शुरू की कि सिक्के किस बादशाह के थे और किस सन् के थे ? और दस के नोटों में कोई बड़ा था या सब छोटे थे ? और किस जेब में क्या था ? और—

मैंने कहा—"पूछ-पूछकर अपना जी ही भरोगी कि कुछ करतब भी

करोगी ? देखो पड़ोस के जो किराएदार हैं वहाँ से कुछ पता लगाओ। सुना ?"

पहले तो श्रीमतीजी कुछ गर्म-सा जवाब देने पर उतारु दीखीं। मानो उन्होंने कहना चाहा कि मैं ही सब कर-धर के रखूँ तो कुछ हो, यह नहीं कि और भी कोई कुछ पैर-हाथ हिलाए। क्यों न, आदमी बड़े जो ठहरे! लेकिन यह सब कहें इससे पहले ही आकस्मिक-भाव से चमक कर बोलीं कि गये रुपये कहीं भला मिलते हैं ? लेकिन एक बात पक्की हो जानी चाहिए, मैं ढूँढकर दूँ तो मुझे क्या इनाम मिलेगा ?

अय्यर अब तक स्थिर-चित्त हो गए थे। जो गया सो गया, उस पर समय को और अपनी शान्ति को भी क्यों जाने दिया जाय। लेकिन श्रीमतीजी की इनाम की बात सुनकर बोले—"भाभी क्यों दिक करती हो ? लाओ पर्स दे दो न।"

श्रीमती बोलीं—"तो मैं चोर हूं, कि मैंने पर्स उठाकर रख लिया है ?"

अय्यर बोले—"आखिर तुम दोगी तो हो ही।"

लेकिन श्रीमतीजी ने इस सुने को अनसुना कर दिया। वह ठोड़ी को हथेलियों पर लेकर सोच में आगे मेज़ पर झुककर बैठ गईं और कुछ देर कुछ नहीं बोलीं। इस अप्रत्याशित मौन पर और भी सब-कुछ रुक गया। थोड़ी देरमें सहसा बोलीं—"सुरजन को,क्यों जी, हमारे यहाँ दसवाँ साल तो है ? तुम क्या समझते हो उसने लिया होगा ?"

मैंने कहा—"मैं नहीं समझता।"

बोलीं—"एक बार तुमने जो जेब से पैसे कम होने की शिकायत की थी। वह फिर मिले भी नहीं। लेकिन सुरजना ने लिये इसका सबूत भी नहीं मिला।"

मुझे चुप देखकर बोलीं—"सुनते हो, फिर क्या कहते हो ?"

मैंने कहा—"क्या कहूँ ?"

बोलीं—"कहो क्यों नहीं? शक हो तो कहो। मैं अभी उसकी चमड़ी बेंतों से उधेड़ सकती हूँ।"

मैं बोला—"नाहक!"

बोलीं—"तुम कहो नाहक़, पर मेरा उस पर सब हक है। मैं उससे कह दूं तो वह अभी जमना में डूबकर मर सकता है। इतना वह मुझे मानता है। तो मैं उसको क्या पीटते-पीटते बेहाल नहीं कर सकती? वह चोर बने तो क्या मैं चुपचाप इसको देखती रह सकती हूं। कहो, तुम्हें शक है?"

मैंने कहा—"शक नहीं है, सबूत का सवाल है।"

श्रीमतीजी ने मेरी ओर देखकर ज़ोर से कहा—"सबूत नहीं, शक का सवाल है। शक काफ़ी है। उस पर ही मैंने सुरजना को अधमरा नहीं कर दिया तो मैं कैसी उसकी मालकिन हूं। बोलो, कहो!"

मैंने फिर कहा—"क्या कहूं?"

बोलीं—"तो मैं कहती हूं उसका यह काम नहीं है।"

कहकर वह चुप हो रही। उँगली माथे पर रख चाय की मेज़ के पार फ़र्श पर आँख गड़ाए जाने वह क्या देखने लगी थीं कि एकाएक व्यस्त भाव से बोलीं—"नहीं, यह काम उसका नहीं हो सकता। हर्गिज़ नहीं हो सकता। सुनते हो, एक लफ्ज़ भी उससे इस बारे में न कहना। मेरे घर में रहकर उससे कोई कुछ नहीं कह पायगा।"

इसके बाद थोड़ी देर जैसे सोच में पड़े रहकर वह फिर पूछताछ करने लगीं कि रुपये किस-किस राजा की मूरत के थे और किस सन् के? नोट छोटे थे या बड़े और क्या उनके नम्बर थे? पर्स ठीक कैसा था? उसकी किस जेब में क्या था?...ओह! 'ज़िप' वाला पर्स था। और दस-दस के तीन नोट उसीमें थे? तो ठीक है।...यह ठीक है।...इस तरह की अपने में उलझी-सी बातें करती हुई वह अय्यर से जिरह करती रही।

मैं स्त्री-बुद्धि का बहुत कायल नहीं हूँ। शायद कारण यह हो कि

मैं विवाहित हूँ। विवाह से पहले—लेकिन उस बात को जाने दो। लेकिन विवाह के बाद से स्त्री के मिजाज़ का मैं इतना अधिक क़ायल हो गया हूँ कि बुद्धि के क़ायल होने का मुझमें कहीं स्थान ही नहीं रह गया है। मैं नहीं जानता कि मिजाज़ की तीक्ष्णता और बुद्धि की तीक्ष्णता दो एकदम दो चीज़ें हैं कि नहीं। कहीं-न-कहीं वे आपस में हिली-मिली तो होंगी। नहीं तो समवेदना की सूक्ष्मता से अलग होकर बुद्धि की कुशाग्रता कैसे चल सकती होगी? इसलिए बावजूद इस बात के कि तर्क चलने पर मेरे सामने अपनी श्रेष्ठता का किसी यूनिवर्सिटी का कोई प्रमाण-पत्र वह मेरे आगे पेश नहीं कर सकती और बावज़ूद इसके कि घड़ी-बेघड़ी उन्हें मैं याद दिलाता रहता हूँ कि मैं अकाउन्टेन्ट जनरल आफिस का एक बड़ा''''आप समझ ही गए होंगे'''इससे जाने दीजिए। यानी बावजूद सब बातों के मालूम होता है कि श्रीमतीजी अपनी राज़ी-नाराज़ी के द्वारा जो दूर के मर्म को सहज-भाव से पकड़ लेती हैं वह मेरे लाख हिसाबी और तात्विक तर्क के हाथ नहीं आ पाता। तब ही मानना होता है कि स्त्री को स्त्रीत्व देकर यदि ईश्वर ने उसे सर्वतो भावेन बुद्धि-शून्य बना दिया होता तो भी जगत की विशेष क्षति न होती क्योंकि स्त्री स्त्रीत्व के ज़ोर से सब अभावों को भरकर पुरुष के आगे तब भी अपराजित ही रहती।

खैर जी, वह छोड़ो। मतलब यह कि श्रीमतीजी की जिरह पर मन में कुछ सदय होता हुआ मैं वहाँ बैठा रहा। जिरह समाप्त होने पर वह फिर कुछ देर गुम-सुम बैठी रहीं। अनन्तर बोलीं—"मेरा साथ वालों की मिसरानी पर शक है।"

मैं विस्मय से बोला—"मिसरानी ?"

मैंने कई बार उस मिसरानी को बराबर वाले किराएदारों के यहाँ आते-जाते देखा था। कभी पूरा नहीं देख पाया। धोती माथे के काफी आगे आई रहती थी। वाचालता उसकी किसी के सामने नहीं आई। चुप आती थी, चुप जाती थी, और किसी के मुख उसकी शिकायत मेरे

कानों तक नहीं आई थी। इसीलिए मैंने अचरज से कहा—"मिसरानी?"

श्रीमतीजी बोलीं—"ख़्याल आता है कि गुसलखाने की तरफ़ से उसके गुज़रने की मुझे कुछ झलक मिली थी। नहीं तो तुम बताओ, कौन हो सकता है?"

निदान हम उस मिसरानी को लेकर बात करने लगे। वह दूसरों के यहां से वेतन पाती और वहीं काम करती है। उससे कैसे कुछ पूछा-ताछा जा सकता है? अजी छोड़ो, जो गया सो गया। किसी पर शक डालकर भला उसको बेइज़्ज़त कैसे किया जाय?

अय्यर की और हमारी यही राय रही कि क़िस्से को अब छोड़ा जाय। श्रीमतीजीकी तत्पर मुद्रासे मालूम होता था कि वह बात को यहीं छोड़ने पर कभी तैयार न होंगी। पर्स न मिला तो शक सुरजना पर भी ठहर सकता है। बस यह उन्हें असह्य होगा। या तो बटुए को कहीं से मिलना होगा नहीं तो सुरजना को पिटना होगा। सुरजना को मारते-मारते वह बेदम कर सकती हैं, पर एक क्षण को भी उसका चोर समझा जाना वह नहीं सह सकतीं।

बात-बात में मैंने ज़ोर से कहा कि कौन तुम्हारे सुरजना को कुछ कहता है? नहीं करेगा कोई उस पर शक। पर अब उस बात को छोड़ो भी।

अय्यर का और भी आग्रह था कि इस क़िस्से पर अब एक भी मिनट और नहीं खर्च करना चाहिए। रुपया गया तो कोई जान तो अपनी नहीं गई। पर श्रीमतीजी ने कहा कि तुम सुरजना पर शक न करने वाले कौन होते हो? पर्स नहीं मिलता तो वह गया कहां? ज़रूर सुरजना ने ग़ायब किया होगा। और अगर सुरजना चोर है तो कहां से उसने चोरी सीखी? आठ बरस का मेरे यहां आया। अगर चोर है तो उसने चोरी हमारे घर के सिवा कहीं बाहर से नहीं सीखी। सुनते हो, अगर वह चोर है तो हमने उसे चोर बनाया है। हमने उसमें लालच की जगह रहने दी होगी, अविश्वास की जगह रहने दी होगी, तभी तो पर्स देखकर उसका मन डिगा। और मन डिगा भी तो वह

बात हमसे कहने नहीं आया !—इसीलिए कहीं-न-कहीं से बटुए को पाकर जाना होगा। नहीं तो मैं इस कम्बख़्त सुरजना को जीता नहीं छोड़ूंगी।

हमें, कम-से-कम मुझे, उनकी भावना और उनका तर्क समझ नहीं आया और हमारे बीच से वह उठकर चली गईं तो मुझे बुरा नहीं लगा और मैं अय्यर से देश-विदेश और सिद्धान्त-नीति की बातें करने में लग गया और पर्स की बला को मन से दूर भगा दिया।

अय्यर से मैं हमेशा कहता रहा हूँ कि देखो भाई, सेवा अच्छी चीज़ है। लेकिन ज़िन्दगी में पैर जमना भी ज़रूरी चीज़ है। क्या यह तुम गांव-गांव भटके फिरते हो ! बताओ कांग्रेस में तुम किस ओहदे पर हो ? प्रोविन्शीयल के मेम्बर बन सके तो बहुत हुआ। देखते नहीं कि लीडर कौन हैं ! वह हैं जिनके पास सब कुछ है। मोटी और पक्की आमदनी और बङ्गला और मोटर और आश्रितों का दल। तब सेवा भी उनको पूछती है। तुम्हारी जैसी सेवा नहीं कि जिसमें खुद को भी घुला दिया जाय। आदर्श ! आदर्श की बात न करो। व्यवहार देखो और व्यवहार कहता है कि सचाईसे चतुराई की अधिक क़ीमत है। देखो मुझे ही दो-तीन सालके अन्दर देखना कि मैं कांग्रेस की तरफ से म्यूनिसिपैलिटी में हूँगा और कांग्रेस-सङ्गठन में भी तुमसे आगे हूँ। अय्यर, यह छोड़ो, वह रास्ता पकड़ो जहां तुम्हारी असली क़ाबलियत चमके। कहता हूँ कि यहां तुम एक अपना ग्रुप बनाओ। मेरी सेवाएं अपनी समझो। स्थानीय पोलिटिक्स...

बात इस तरह स्थानीय से देश और फिर विदेश की ओर फैल चली। वह राजनीति के और सिद्धान्त-वाद के ऊँचे-ऊँचे कँगूरों को छूती उन पर उछलती फिरने लगी। उसमें गर्मी भी आई। मैंने गांधीवाद को तरह-तरह के तर्कों से घायल कर छोड़ा। मुझे विश्वास है कि अय्यर की कट्टरता ही उसे सुरक्षित रख सकी, नहीं तो गांधी-नीति धराशायी हो गई थी। अय्यर ने कम प्रखर तर्क नहीं दिए, लेकिन मेरे जवाब के

आगे वे सभी कटकर रह गए। मैंने कहा—"देखो अय्यर, गांधी-वाद के आधार पर तुम चले कि मेरा तुम्हारा साथ नहीं। हम भारत को दीन नहीं सम्पन्न देखना चाहते हैं। तुम मुझे भावना में पड़कर दीनों का समक्ष होने के लिए स्वयम् दीन बनने को कहते हो। लेकिन यह भ्रम है। खुद सम्पन्न बनकर अपने उदाहरण से दीनों को सम्पन्न बनने का मार्ग दिखाना होगा। इन्डस्ट्रीयलाईजेशन—नहीं इसके बिना उपाय नहीं।"

अय्यर ने भी कुछ कहा। पर मुझे अपनी बातें इसलिए याद हैं कि अब ठण्डक में देश और सिद्धान्त सम्बन्धी तब की अपनी गर्मी मुझे ही व्यंग मालूम होती है। सरांश, हम इसी तरह की ज़रूरी बातें कर रहे थे कि पास ही कहीं से धीमे-धीमे उठता हुआ शोर ज़ोर पकड़ने लगा। कोलाहल इस तरह थप्पड़ की भांति कानों पर पड़ने लगा कि मैं अपनी जगह से उठा, कहा—"देखूं क्या मामला है ?"

अन्दर पहुँचकर पहले सहन के पार दूसरा जो सहन है वहां देखता हूँ कि आठ-दस आदमियों की ख़ासी भीड़-सी खड़ी हुई है। देखा तो आसपास के नौकर-चाकर, पड़ोस का एक तांगे वाला, एक दर्जी और एक पंसारी, इसी तरह के कुछ लोग वहां जमा हैं। बीच में मिसरानी खड़ी पुकार-पुकारकर कह रही है कि उससे क़सम ले लो, उसके सब मर जायं, उसके बदन में कीड़े पड़ें जो उसने कुछ लिया हो तो। वह रो रही थी और दुहाई दे रही थी। पास ही श्रीमतीजी खड़ी बड़े धीरज से कह रहीं थीं कि चीखने–चिल्लाने से फ़ायदा नहीं, धीरे-धीरे बातों का जवाब दो।

मैंने कहा—"यह क्या तमाशा है ? क्यों किसी को सताया जा रहा है !"

श्रीमतीजी ने डांटकर कहा—"तुमको किसने बुलाया ? क्यों री ! बता तू उधर गई थी या नहीं ?"

जवाब में मिसरानी ने ज़ोर-ज़ोर से पुकारकर दुहाइयां दीं—कि

भगवान् उसे अभी उठा ले जो उसने किसी का कोई बटुआ देखा भी हो।

मिसरानी का पक्ष लेने वाला एक पड़ोसका नौकर बोला—"बाबूजी बहूजी नाहक हैरान कर रहीं हैं। उस बिचारी के बाबू इस वक्त हैं नहीं, इसीसे तो! ओ री ओ! दिखा क्यों नहीं देती है? लो बहूजी! उसकी तलाशी ले लो, नंगा-झाड़ा ले लो। इसके आगे उसकी जान तो नहीं ले सकतीं?"

यह कहकर उस आदमी ने मिसरानी का हाथ पकड़ लिया, कहा—"दिखा री! तैने कहां क्या छिपा रक्खा है?"

कहने के साथ उसने मिसरानी की धोती का छोर छुआ—देखते-देखते मिसरानी ने अपने ऊपर आया हुआ धोती का पल्ला अलग फेंक दिया और सिर्फ चोली पहिने हुए खुले सिर चुनौती के साथ कहने लगी—देख लो, जो कहीं मेरे पास कुछ हो।

उस आदमी ने कहा—"सब दिखा दे, जो इन बहूजी को बिसवास हो जाय।"

कहकर वह आदमी और मिसरानी भी उद्यत हुए कि चोली और बाक़ी धोती भी खींचकर अलग कर दी जाय। श्रीमतीजी ने डांटकर और हाथ से उस आदमी को पकड़कर दूर कर दिया कहा—"बदमाश! हया नहीं है? (औरों से) तुम लोग क्या देख रहे हो? यहां कुछ तमाशा है? जाओ! और सुनो ए रतना और बिहारी इसको यहीं पकड़े रहना मैं आती हूँ। आऊँ तब तक छोड़ना नहीं।"

कहकर श्रीमती ने सबको वहां से दुत्कार कर दूर कर दिया। मिसरानी धम से बैठकर माथा पीटने और दुहाइयां रोने लगी। और श्रीमतीजी उसे उसी हालत में छोड़कर चली गईं।

मेरी इच्छा हुई कि मैं बीच में पड़ कर मिसरानी को छुटकारा दिलाऊँ। यह दृश्य मुझे अच्छा नहीं मालूम हो रहा था। अत्यन्त शील युक्ता दीखने वाली नारी लज्जा को इस प्रकार से चुनौती दे उठे यह

मुझे बहुत बीभत्स मालूम हुआ। पर श्रीमतीजी की योजना का मुझे कुछ पता न था इससे मैं दख़ल न दे सका। तो भी मैंने उसे दिलासा दी, उसके हाथ छुड़वा दिए और कहा कि धीरज रखो।

मेरे पास आने और बोलने पर मिसरानी ने धोती को उसी तरह अपने सिर पर ले लिया। कोर माथे के आगे करली और रोकर बताया—"मैं कुछ नहीं जानती, मैं बेक़सूर हूँ।"

मैं कुछ समाधान की बात कहने वाला ही था कि देखा वह सहसा उठकर वहां से तेज़ चाल से झपट चली है। रतना और बिहारी पकड़ने को लपके लेकिन मैंने उन्हें रोक दिया।

भागती-सी हुई वह अपने घर के दरवाज़े पर पहुंची। पांच-सात मिनट बाद मुझे भी अपने घर से सुरजना बुलाकर उधर ही ले गया। मैं नहीं कह सकता कि इसके बीच पांच-सात मिनट में वहां क्या हुआ। पर पहुँचने पर देखा कि भीड़ के बीच में खड़ी मिसरानी कह रही है कि बटुआ तो मेरा था। एक दस का नोट दो रुपये और इतने आने उसमें हैं।

वहीं श्रीमतीजी खड़ी पूछ रही हैं—"और उसमें क्या है?"

"और कुछ काग़ज होंगे, बाक़ी पैसा नहीं है।"

तब सबके सामने श्रीमतीजी ने अपने हाथ का बटुआ दिखाकर उसका 'ज़िप' खोला। अन्दर से तीन नए दस-दस के नोट निकले।

यह देखकर मिसरानी का चेहरा राख हो आया था। पर वह दुहाई देती जा रही थी कि जाने किस मुँहजले ने मेरे ट्रंक में बटुआ रख दिया—इत्यादि—इत्यादि।

श्रीमतीजी की तब की रौद्र मूर्ति का ख़्याल आता है तो अब भी जाने क्या मन में होता है। पर उस वक्त उन पर जैसे नशा सवार था। उनके हाथ में बेंत थी। उन्होंने उसे दिखाकर सिर्फ एक शब्द कहा—"चुप।"

जाने क्या हुआ कि मिसरानी एकदम चुप पड़ गई। तब श्रीमतीजी

ने खुद आगे बढ़कर कहा—चलो। सबसे कहा—आप लोग जाइए।

वह इतनी ठण्डी ज़ुबान थी कि जो निकला वही हुआ। उसके बाद फिर मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि क्या हुआ। श्रीमतीजी से ही जान के मालूम हुआ कि उसे वह एक कोठरी में ले गईं। वहां पूछकर उसके सारे जीवन का इतिहास जाना। उसके बाद उसने शनैः शनैः अपना दोष स्वीकार किया फिर उसे खुद राजी किया कि उसे सजा मिलनी चाहिए। फिर अपने हाथों से, बेंतों से उसे बेहद पीटा।

और बात मैं नहीं जानता, आपसी बातचीत जो उनके बीच हुई हो। लेकिन उनके बेंत से मारने और उस मार पर मिसरानी के चीखने की आवाज मैंने भी सुनी थी।

उसके तत्काल अनन्तर श्रीमतीजी आईं, ओंठ उनके नीले थे और हाथ अब भी कांप रहा था। पर हँसकर अय्यर को उन्होंने उनका पर्स दे दिया। कहा—"देख लीजिए सब ठीक है ?"

अय्यर ने बिना देखे कहा—"ठीक है।"

बोलीं—"नहीं, देख लीजिए।"

अय्यर ने सब चीजें देखकर सँभालीं, कहा—"सब ठीक है।"

श्रीमतीजी ने हँसकर कहा—"देखिए मैंने कितनी मेहनत की है। मुझे इनाम नहीं दीजिएगा ? आपके तो रुपये जा ही चुके थे, इससे सब रुपये भी अपने इनाम में मैं मांग लूं तो बेजा नहीं है।"

अय्यर ने वापिस बटुआ उन्हींके आगे कर दिया।

श्रीमती हँसकर बोलीं—"इस मरे चमड़ेका मैं क्या करूँगी ?" कह कर चारों नोट और दो रुपये निकालकर बाक़ी बटुआ उन्हींको लौटा दिया।

मैंने कहा—"मिनी ! तुम्हे शर्म आनी चाहिए। उस बिचारी को तुम कैसे मार सकीं ? कौन जानता है कि किस बेबसी में उसने यह काम किया होगा !"

श्रीमती ने हँसकर कहा—"मैं जानती हूँ। बिधवा के भी बेटा हो

चुकता है और उसका लड़का दूर एक स्कूल में पढ़ता है। सातवीं से अब आठवीं की पढ़ाई करेगा। उसके लिए बिचारी को कुछ चाहिए था...पर चोरी तो चोरी ही है।"

इसके बाद हम दोनों समझ गए कि श्रीमतीजी के (इनाम के ४२) रुपये उस दूर के लड़के की आठवीं की पढ़ाई के काम में आयंगे। फिर भी मैंने साहस करके पूछा—"मिसरानी कहां है ?"

श्रीमतीजी ने गुस्से में कहा—"कम्बख़्त अभी मरी नहीं है—सिसक रही है।"

पन्द्रह

तो लाये ?

दफ्तर जाता हूं तो सामने के घर के चबूतरे पर एक खटिया पड़ी रहती है। आता हूं तब भी वह खाट वहीं ही मिलती है। वह दिन-रात वहीं रहती है।

उस घरके आदमी की तरफ मेरा ज्यादा ध्यान नहीं है। सिवाय इस के कि वह खांसता बहुत है और इस वजह से आसपास काफी गन्दगी रहती है। खैर, मैं ऊपर से उतर सीधा दफ्तर चला जाता हूं और शाम को जीना खोलकर ऊपर घर आजाता हूं।

घर में से मालूम हुआ कि इस नीचे पड़े आदमी की घर वाले बड़ी बेकदरी करते हैं। और तो और ऊपर से डाटते-डपटते भी रहते हैं। हो तो उनसे एक बार कहो न ?

मैंने कहा—"कहने से वृथा गांठ पड़ेगी, लाभ कुछ होगा नहीं, और मैं नया अनजान आदमी हूँ।"

वह बोली—"रोगी को मरना तो है ही, पर क्या ऐसे जान-बूझ कर मारा जाता है। ले के निकाल पटका है बाहर ! और गन्दगी भी तो इससे फैलती है। मैं तो दिन-रात खों-खों से परेशान रहती हूं। क्यों जी ! कुछ किया नहीं जा सकता ?"

मैंने कहा—"इसके सिवा कि हम अपने घर में जगह दें, दूसरा कुछ करना न करने से खराब होगा।"

अपने घर में लाने की बात वह सुनने को तैयार न थीं।

ऐसे दिन कटते चले गए।

एक दिन मैं देर से लौटा। मित्र मिल गए और सिनेमा ले गए।

ऐसी देर भी नहीं थी। ६॥ का समय होगा। पर दरवाजा खटखटा रहा हूं। और आवाज लगा रहा हूं,लेकिन ऊपर किसी को कुछ खबर ही नहीं है। इस प्रयत्न में मुझे पांच-सात मिनट होगए। मुझे बेहद बुरा मालूम हुआ। इतने में सामने के चबूतरे से आवाज आई—"बाबूजी, आप खड़े क्यों हैं, यहां आजाइए।"

एक-आध बार तो मैंने टाला। पर यह सोचकर कि इसमें वह अपना अपमान न समझे, मैं उसके पास जा बैठा। उसने कहा—"बहू बेटियां हैं, आंख लग गई होगी आप यहां आराम से बैठ जाइए। फिर कुछ देर में आवाज दे लीजिएगा, आ जायंगी।"

बातों-बातों में उसका इतिहास मालूम हुआ। दो उसके छोटे भाई हैं। इन्हें उसीने पाला-पोसा है, ब्याह किया है। उसकी पान की दूकान थी। चलती थी। फिर उसमें टोटा आने लगा। पैसा देता रहा तब तक भाई उसके थे और उनकी बीवियां भी उसे मानती थीं। भाई दो पैसा लाने लगे और दूकान उठ गई तो अब उसे यहां पटक रखा है। न दवा है न दारू है। ऊपर से ताने और सुनायं जाते हैं। दो वक्त खाने का भी ठीक नहीं।

खखार डालने के लिए राख का एक मिट्टी का वर्तन पास था, फिर भी वह आदमी इधर-उधर खखार देता था। वह दुबला था, पीला और कनपटी की हड्डियाँ बहुत उभरी हुई थीं। आंखें अन्दर धंस गई थीं। सब मिलाकर दृश्य रुचिकर न था।

भाइयों की और उनकी बीवियों की उसने सख्त शिकायत की। वे अब आँख बचाते हैं और पास नहीं फटकते। दो-चारका जो उस पर देना आता है, वह हमें घड़ी भी चैन नहीं लेने देते। उनकी तरफ बल्कि आस-पास सबकी तरफ उसके मनमें कड़वाहट थी। और छोड़ते-छोड़ते भी वह मानो इस दुनिया को अभिशाप देकर जाना चाहता था।

अंतमें उसने मुझसे कहा कि क्या दो रुपये मैं उसे दे सकता हूं?बड़ी मेहरबानी होगी। दो रोज जी लूंगा। मैंने कह दिया था कि दे दूंगा

यहां श्रीमती की बात कहनी चाहिए। यह सही नहीं है कि उनकी नींद कुम्भकर्णी है। जरा खटके पर जग जाती हैं। किन्तु ९ बजे उनके समय की अवधि है। आवाज पर वह जग तो गई थीं पर ९ कब का हो चुका था। इसलिए निर्विघ्न भाव से उन्होंने मुझे कुण्डा खटखटाते और चिल्लाते रहने दिया। घड़ी मेरे पास रहती है, फिर भी शायद उन का तरीका यह बताने के लिए था कि अब क्या बजा है। अब वह चलकर दरवाजा खोलने को तत्पर ही थीं कि नीचे से पुकार बन्द होगई। ऊपर चुपके झरोखोंमें से झांककर देखा कि मैं खाट वाले बुड्ढेके पास हूं। वह इस बात पर अप्रसन्न थीं। कुछ देर तो धीरज से सहती रहीं, अनंतर असह्य होने पर नीचे आकर द्वार खोलकर बोलीं—"आओगे नहीं?"

मैं तत्काल उठा। आकर कहा—"इतनी आवाजें दीं, तुमने सुना नहीं?"

बोलीं—"मेरी आँख लग गई थी। आधी-आधी रात आओगे तो मैं कब तक जागती रहूंगी!"

"अब तो बिना आवाज के जाग गईं?"

"ये बुड्ढे को खौं-खौं रात को सोने देती है? उससे क्या बात हो रही थी?"

सच यह है कि विवाह को पंद्रह वर्ष हो गए, पर उनके गुण मैं अभी नहीं जानता। बता दिया दो रुपये देने को कह आया हूं।

क्लर्क आदमी हूँ इससे मेरी गिरस्ती का हाल आप जानते ही हैं। हिसाब कसा-बंधा रहता है। घट-बढ़ की गुंजाइश तो उसमें से शायद ही निकले। तीस दिन के वेतन में २८ दिन का खर्च। इस तरह दो दिन हिसाब में सदा चढ़े रहते हैं। इस चौकस हिसाब में ऐसी कहीं सन्धि नहीं है कि दया-मायाका उसमेंसे प्रवेश हो सके। बोलीं—"तुम्हें मालूम नहीं, इसी बात पर उसके घर के लोग रोज कितना कहते-सुनते हैं। हर किसी से वह कुछ-न-कुछ मांगता रहता है। दो-दो चार-चार आने तक ले लेता है। तुम्हीं न देखो कि घर वालों को ये कितना बुरा लगता होगा?

सब उन्हें दोष न देते होंगे ? तुम हरगिज ये रुपये न देना। भला वह लोग क्या कहेंगे कि पड़ौसी होकर हम सबके बीच उन्हें शर्मिन्दा करादें।"

सोचा कि सचमुच सवाल का यह पहलू भारी था ! यों तो हिसाब की बात भी छोटी न थी पर पतिका दिया वचन पत्नीके लिए इतना सर्वोपरि होता है कि हिसाब-किताब की गिनती उसके आगे नहीं है। पर यह सोचने की बात है कि रुपये देकर पड़ौसियों के अपमान का तो मैं भागी नहीं ? रुपये का वह करेगा भी क्या ? न खाने योग्य कुछ खायगा, और क्या !

इस भांति अगले रोज समय पर नीची निगाह किये मैं सीधा दफ्तर चला गया। आया तो सीधा चढ़ता हुआ ऊपर घर आगया। दरवाजे के पास के दस कदम मैं अत्यंत व्यस्तता के साथ रखता था, कि जैसे कोई बहुत जरूरी काम है। बिना देखे मैं देखता था कि खाट पर से आशा की दो आँखें मुझ पर लगी हैं। उस आशा को निराश कर रहा हूं यह भी नहीं, मानो काम बेहद है, नहीं तो—नहीं तो—

ऐसे चार-पांच रोज और निकल गए। तेजी से दरवाजे से निकलता और तेजी से दाखिल होता। फिर भी मैं इन आंखों को बचा पाया, ये सान्त्वना मुझे न हुई।

पांचवे या छठे रोज देखता हूं कि चबूतरे पर कुछ सरगर्मी है, घर वाले व्यग्र हैं। बाहर काफी लोग आजा रहे हैं। दो-चार पास-पड़ोस के आदमी भी वहां जमा हैं। शायद तबियत ज्यादा खराब है। इस तरह मैं भी वहाँ पहुँच गया।

बुड्ढा उस वक्त बेहोश था। उपचार किया जा रहा था, पर लोग देख रहे थे कि घड़ी अन्तिम है। अब होश आए भी किन आये। मैं एक लोहे के स्टूल पर खाट के पास बैठा था। घर के और लोग खड़े थे। इतने में उसे होश हुआ, आंखें खोली, इधर-उधर देखा। फिर मुझ पर आँखें टिकीं। जैसे मुझे पहचानने में कुछ समय लगा। फिर बोला—"तो लाये ?"

कहकर मेरी तरफ देखते हुए उसकी आंखें फटी-की-फटी रह गईं ।

मैं उसकी आंखों की ओर देखता रह गया । लोग मौत को पहचान गए । वे रोने लगे । उसकी आंखों में मैं जो देख रहा था वह मौत ही थी, या कि अब भी प्रश्न था—"जाये ?"

मुझे लगा कि जैसे मेरे और सबके प्रति वह यही पूछता हुआ गया है—"तो जाये ?"